❀ ओ३म् तत्सत् ❀

SAHAJ MARGA

सहज मार्ग

वर्ष ४ — अंक ३

Year 4 — Numbor 3

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर (उ० प्र०)

(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission
Shahjahanpur. U. P. (India)

सम्पादक मण्डल

काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३) — एक अंक का १)

प्रकाशक श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट
शाहजहाँपुर उत्तर प्रदेश (भारतवर्ष)

विषय सूची:—

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१—प्रार्थना		१
२—सम्पादकीय—कृपा		२
३—अध्यात्म (क्रमागत) समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी फतेहगढ़		६
४—सहज मार्ग की शिक्षण पद्धति	श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन	११
५—हवा से लाभ	काशी राम अग्रवाल	१४
६—अनन्त यात्रा (क्रमागत)		१७
७—ध्येय और प्रतीक	श्री रघुनन्दन प्रसाद 'इन्द्र' एडवोकेट	२१
८—भजन	गुरू नानक	२६
९—सुबह का भूला शाम को आ जाये तो ?	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी	२७
10-Guru Sandesh (Master's Message)	Shri Ram Chandra Ji, President S.R.C.M.	33
11-Misunderstandings about Yoga III Ashtanga Yoga	Shri Ishwar Sahai	46
12-Talks on Shri Babu Ji's Commentary on the Ten Commandments of Sahaj Marga	Dr. K.C.Varadachari	52
13-The Problem Confronting Man Today	Shri Raghavendra Rao	57
14-A Test for a true seeker of knowledge Opening Legend of Kathopanishad		63
15-सहज साधना	—from Bhagawad Gita	64

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो ।)

वर्ष ४ | अश्विन शाकाब्द १८८२, सं० २०१८विक्रमी | अङ्क ३

Year 4 | September–October 1960 | No. 3

★ प्रार्थना ★

हे नाथ, तू ही मनुष्य–जीवन का ध्येय है ।

हमारी इच्छाएँ हमारी उन्नति में बाधक हैं ।

तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है ।

बिना तेरी सहायता तेरी, प्राप्ति असम्भव है ।

[श्री रामचन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

सम्पादकीयः-

कृपा

साधना में 'अभ्यास' और 'कृपा' अनिवार्यतः एक दूसरे के पूरक हैं। किसी भी कार्य की सिद्धि सम्पूर्णतः कर्ता के प्रयत्न का परिणाम नहीं होती। इच्छित फल की प्राप्ति तो दूर की बात है, स्वयं प्रयत्न की सम्भावना के लिये एक ऐसे माध्यम(*Medium*) की अपेक्षा होती है, जो कर्ता द्वारा नियन्त्रण की वस्तु नहीं। पक्षी की उड़ान वायु के अभाव में सम्भव नहीं, अन्तरिक्ष यात्रा के लिए एक व्यापक भौतिक शक्ति और व्यवस्था की अपेक्षा है, विबोध(*Reason*) किसी भी उद्देश्यपूर्ण मानवीय व्यवहार की आधार भूत स्वयं सिद्धि (*Basic axiom*) है। कर्ता तो मूल शक्ति का संयोजक मात्र होता है, बल्कि उसकी यह संयोजन-क्षमता भी एक व्यापक मूल व्यवस्था के आश्रित होती है। उस व्यापक मूल शक्तिकी व्यवस्था के साथ समायुक्त (*In-tuned*) व्यवहार सफल प्रयत्न कहलाता है; ऐसे प्रयत्न को उपर्युक्त व्यवस्था स्वय परिपूर्णता प्रदान करती है। कर्ता का कर्तृत्व-अभिमान तो उस की सीमित दृष्टि की देन है, जो निमित्त-कारण (*Instrumental Cause*) को सम्पूर्ण कारण (*whole cause*) के रूप में प्रस्तुत करती है। इस वास्तविकता का निरूपण गीता में स्पष्ट रूप से हुआ है:—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

(कर्म तो प्रकृति के गुणों से सम्पूर्णतः किये हुए हैं। अंहकार से विमोहित आत्मा यह मानता है, कि 'मैं' करने वाला हूँ।)

कुछ और आगे गीता में सम्पूर्ण कारण' का विश्लेषण पाँच अंगों में किया गया है : (*i*) अधिष्ठान (*Basic order*) (*ii*) कर्ता

(*Agent*), (*iii*) अनेक प्रकार के करण या साधन (*Instruments*) (*iv*) अनेक चेष्टायें (*Activities*), और (*v*) दैव (*Destiny*). पाश्चात्य तर्क शास्त्र और विज्ञान इस विश्लेषण से बहुत कुछ सहमत होंगे, उन्हें आक्षेप केवल पाँचवें अंग 'दैव' के प्रत्यय के विषय में होगा।

'दैव' (*Destiny*) के प्रत्यय में दो तत्व हैं—(*a*) पूर्व-निर्धारित बाध्यता (*Pre-arranged Determinism*); और (*b*) निर्बाध अनिश्चितता (*Whimsical Indeterminism*)–जो परस्पर व्याघातक प्रतीत होते हैं। यान्त्रिक विज्ञान (*Mechanistic Science*) पहले तत्व को निःसंकोच स्वीकार कर लेगा। किन्तु पूर्व निर्धारित बाध्यता भी दो अर्थों में ग्रहण की जा सकती है—(*i*) यथार्थवादी यांत्रिक (*Realistic Mechanistic*), और (*ii*) आदर्शवादी उद्देशपूर्ण (*Idealistic Teleological*).रूढ़ पाश्चत्य विज्ञान(उन्नीसवीं शताब्दि ईस्वी) पहले अर्थ में ही बाध्यता को स्वीकार करता है, अतः मानव की महिमा को नष्ट करने वाले इस दृष्टिकोण के प्रति स्वयं पाश्चात्य तत्वज्ञान में अत्यन्त प्रबल आदर्शात्मक प्रतिक्रिया हुई है। शुद्ध (*Pure*) विज्ञान के क्षेत्र में भी आज कारणता के विषय में उन्नीसवीं शताब्दि का अनम्य (*Rigid*) दृष्टिकोण समाप्त हो चला है।

दूसरी ओर निर्बाधता और स्वच्छन्दता पर बल देने वाले परातत्वशास्त्री (*Metaphysicians*) भी निरपेक्ष निर्बाधता (*Absolute Indeterminism*) को स्वीकार नहीं कर पाते। किसी घटना की बाध्यता सम्पूर्ण क्षेत्र (*Field*) के संघटन (*Structure*) के सापेक्ष (*Relative*) होती है, अतः सम्पूर्ण क्षेत्र के स्वभाव के ज्ञान के अनुपात में उस क्षेत्र की घटनाओं की निश्चितता निर्धारित की जा सकती है। अतः दैव के कार्य (*Function*) का दूसरा तत्व मुख्यतः मानवीय ज्ञान की सीमा की ओर इंगित करता है। चूंकि आध्यात्मिक और ब्रह्म-विद्या विषयक साधना का चरम लक्ष्य अन्तिम सत् का साक्षात्कार है जो सम्पूर्ण ज्ञान का आधार है (अतः उसकी पकड़ से बाहर), अतः मानवीय ज्ञान की ससीमता की चेतना का सम्बल ग्रहण करना ही ऐसे चरम लक्ष्य के साक्षात्कार में सहायक

होता है। यद्यपि मानवीय ज्ञान और प्रयास की ससीमता की चेतना 'कृपा' पर निर्भरता उत्पन्न करती है, तब भी इस प्रकार की निर्भरता मानव की महिमा की घातक कदापि नहीं। सच बात तो यह है कि यह उस अन्तिम सत् से तादात्म्य का साधन है, अतः इसका सही रूप से इस्तेमाल करने वाला साधक उसी अन्तिम सत् की शक्ति से स्वयं सम्पन्न हो जाता है, उसकी इच्छा कभी असफल होती नहीं, यद्यपि इस का ज्ञान उसे स्वयँ नहीं रहता, और उस की इच्छा भी उसे पता नहीं रहती। वह अन्तिम सत् अर्थात् सम्पूर्ण प्रकृति की ही भाँति बाध्य और स्वच्छन्द दोनों ही हो जाता है—बाध्य सम्पूर्ण सत् के स्वरूप की दृष्टि से, और स्वच्छन्द अन्तिम सत् के आँशिक ज्ञान की दृष्टि से।

वास्तव में स्वच्छन्दता और बाध्यता में जो विरोध दिखाई पड़ता है, वह प्रतीति मात्र है। स्वच्छन्ता का अर्थ है 'अपने स्वभाव द्वारा नियन्त्रित'। अब चूंकि प्रकृति की सम्पूर्ण व्यवस्था स्वयं ज्ञान, विबोध और चेतना का आधार है, अतः इन साधनों का प्रयोग करने वाले वैज्ञानिक और विबोध-प्रधान दार्शनिक प्रकृति के व्यवहार में सदैव एक अनिश्चितता और निर्बाधता का तत्व पाते हैं। उदाहरणार्थ के गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र (*Gravitationat Field*) में साधारण अनुभव के आधार पर प्राप्त न्यूटन के गति सम्बन्धी नियम *(Laws of Motion)* उस क्षेत्र के बाहर प्राकृतिक घटनाओं के विषय में निश्चित ज्ञान प्रदान करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। आइन्सटाइन ने तो चिंतन के आधार पर ही इस ओर इंगित किया था, आज स्पुतनिक-युग में यह बात प्रत्यक्ष हो गई है कि विश्व की व्यवस्था में गति *(speed)* के विषय में कोई निरपेक्ष सीमा(*Absolutelimit*) निर्धारित नहीं की जा सकती। वैज्ञानिक और विबोध-प्रधान दर्शन शास्त्र की दृष्टि से यही अनिश्चितता का तत्व 'दैव' की 'कृपा' पर निर्भरता की प्रेरणा उत्पन्न करता है। बड़े से बड़ा सच्चा वैज्ञानिक और तर्क शास्त्री भी अन्ततोगत्वा हार कर फिट्जजेराल्ड *(Fitzgerald)* के उमर खय्याम से सहमत हो जाता है कि 'एक द्वार ऐसा था जिसकी कुंजी मुझे नही मिल सकी, एक पर्दा ऐसा था जिस के पार मैं नहीं देख

सका'। इस दृष्टि कोण का व्यावहारिक लाभ यह अवश्य होता है, कि वैज्ञानिक और तर्क शास्त्री में अहंकार-शून्य निष्काम उद्वेग-हीन कर्तव्य-परायणता उत्पन्न हो जाती है, जो कि वास्तविक वैज्ञानिक दृष्टि की विशिष्टता है।

किन्तु 'कृपा' के विषय में यह दृष्टिकोण किसी हद तक निराशाजनक ही है। भारतीय दर्शन के साधना पक्ष के इतिहास में 'कृपा' अनन्त शक्ति का स्रोत मानी गई है। साधना के चरम लक्ष्य की ओर प्रगति और उसकी प्राप्ति का 'कृपा' एक मात्र साधन है। 'कृपा' के इस पक्ष को समझने के लिए चरम सत् के उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन से थोड़ा ही आगे बढ़ना होगा। हम ऊपर देख चुके हैं कि 'प्रकृति की सम्पूर्ण व्यवस्था' ज्ञान, विबोध और चेतना की पकड़ से परे है, क्योंकि वह इन सब का स्वयं आधार है अतः इन सबकी कोई भी क्रिया उस मूल व्यवस्था पर आश्रित है। ऐसी स्थिति में भारतीय मनीषियों ने उस 'सम्पूर्ण व्यवस्था' (वह जो कुछ भी हो) के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का एक मात्र उपाय स्वयं उसी के प्रति 'अनन्य समर्पण' बताया है। इस उपाय में कोई रहस्य की बात नहीं। लहराते समुद्र में तैरने वाला कोई भी व्यक्ति जानता है कि लहर स्वयं उस व्यक्ति की तैराकी के प्रयास को अप्रत्याशित सफलता प्रदान करती है, जिसने अपने को उसे समर्पित कर के उस व्यवस्था के साथ अपनी क्रिया का सामंजस्य स्थापित कर लिया है। इसी प्रकार गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र की व्यवस्था अपने साथ समायुक्त क्रिया को अपनी सम्पूर्ण शक्ति प्रदान कर देती है, और गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र से अधिक व्यापक व्यवस्था के साथ समायुक्त क्रिया को तो इतनी शक्ति प्राप्त हो जाती है, जो गुरुत्वाकर्षण की शक्ति का भी प्रतिरोध करके उसकी सीमाका अतिक्रमण कर जाती है। इसी प्रकार और भी आगे जा कर सम्पूर्ण व्यवस्था के प्रति समर्पित साधक का प्रयास उस व्यवस्था के साथ समायुक्त होकर उसी अनन्त शक्ति से सम्पन्न हो जाता है, और उस के असफल होने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में साधक का व्यवहार किसी एक व्यवस्था की दृष्टि से असंगत प्रतीत होने लगता है, किन्तु समग्र व्यापक

व्यवस्था की दृष्टि से उस से अधिक संगत और उचित व्यवहार कोई और हो नहीं सकता। उदाहरणार्थ महाभारत में श्री कृष्ण के अनेक व्यवहार निरपेक्ष नैतिकता, धर्म, व्यवहार कुशलता, लोक कल्याण आदि की दृष्टि से अनुचित और असंगत लगते हैं. किन्तु सम्पूर्ण प्रकृति की व्यापक व्यवस्था (जो स्वयं नैतिकता, कल्याण आदि का आधार है) की दृष्टि से उस के अतिरिक्त और कोई अधिक संगत और उचित व्यवहार हो नहीं सकता। श्री कृष्ण का अविकम्पित आत्म-विश्वास और अपराजेय इच्छा-शक्ति महाभारत में क़दम क़दम पर मुखरित और आलोकित है। ऐसी स्थिति में शक्ति का तो कोई ठिकाना ही नहीं, यद्यपि स्वभाव की कोमलता भी ऐसी कि शक्ति का लेश मात्र भी पता नहीं, और बेदाम की गुलामी में सँकोच का सवाल नहीं। सम्पूर्ण व्यापक व्यवस्था के साथ तादात्मय की यह स्थिति ज्ञान, तप, उपासना आदि किसी भी प्रकार के प्रबल प्रयास द्वारा प्राप्त होने की वस्तु नहीं, क्यों कि इन सबका आधार तो स्वयं वह समग्र व्यवस्था ही है, जो इन सब का अतिक्रमण (Transcend) करती है। अहंता का किसी रूप में पोषण करने वाला कोई भी भावात्मक और निषेधात्मक प्रयत्न केवल अपनी विशिष्ट व्यवस्था की परिधि की उच्चतम हालत ही प्रदान कर सकता है, किन्तु स्वयं 'अहंता' जिस 'समग्र व्यवस्था पर आश्रित है, उसकी चरम अवस्था की प्राप्ति का साधन तो बस उस के प्रति ऐसा लगाव और समर्पण ही हो सकता है, कि लगाव और समर्पण का भी साधक को पता न रह जाये। श्री कृष्ण या ऐसी स्थिति प्राप्त किये किसी व्यक्ति को 'अवतार' कहने का आशय कदाचित यही है कि उसकी हालत (अनन्त शक्ति और कोमलता आदि) का उस पर 'अवतरण' हुआ है न कि वह सम्पूर्णतः प्रयत्नसाध्य है।

किन्तु यहां एक बात पर विचार करना आवश्यक है। 'सम्पूर्ण सत् की व्यवस्था' के साथ तादात्म्य की चरम स्थिति प्रयत्नसाध्य नहीं है, यह कहने का अर्थ यह कदापि नहीं कि 'प्रयत्न' अनावश्यक है। 'विबोध', 'ज्ञान', 'चैतन्य', 'आनन्द', 'शक्ति', 'कल्याण' आदि की ही भाँति 'प्रयत्न' अर्थात् 'अभ्यास' भी उस 'सम्पूर्ण सत्' की व्यवस्था का अंग है, यद्यपि इनमें से किसी में भी

वह 'सम्पूर्ण व्यवस्था' समाप्त नहीं है। अतः सम्पूर्ण व्यवस्था से तादात्म्यकी स्थितिमें परित्याग किसीभी चीजका नहीं होता, किंतु उनका रूप कुछ ऐसा सूक्ष्म और दिव्यहो जाता है कि उसे निषेधात्मक शब्दोंमें वर्णन करना सरल प्रतीत होता है। रहस्य की बात इस में भी कुछ विशेष नहीं है। यदि हम एक तेज़ी से घूमते हुए लट्टू की मिसाल लें, तो उसमें निस्संदेह एक सूक्ष्मतम धुरी होगी, जो लट्टूके कण-कण की गति का आधार होते हुए भी गति-शून्य स्थिति में होगी। ठीक इसी प्रकार सम्पूर्ण सत् से तादात्म्य की स्थिति में विबोध इस रूपमें क्रियाशील होता है, कि ऐसे व्यक्ति के व्यवहार बुद्धि-विरुद्ध प्रतीत होने पर भी अन्ततोगत्वा विबोध-संगत सिद्ध होते है। 'प्रयत्न' का भी ऐसाही हाल होता है! समर्पित प्रयत्न उन सभी साधारण विशेषताओं से शून्यहो जाता है, जिनसे 'प्रयत्न' के गुणों पर मुग्ध रहने वाले लोग परिचित हैं, किन्तु ऐसे 'प्रयत्न' को सम्पूर्ण सत् कुछ ऐसी सम्पन्नता प्रदान करने लग जाता है, कि स्वयं वह सम्पूर्ण सत अव्यवस्थित और निर्बाध रूप से अनिश्चित प्रतीत होने लगता है, यद्यपि उस का व्यवहार अपने सम्पूर्ण स्वभाव द्वारा नियन्त्रित होता है, जो उस के अन्तर्गत स्थिति किसी भी व्यवस्था की पकड़ के बाहर है। सम्पूर्ण सत् का यही व्यवहार 'कृपा' कहा जाता है। 'अभ्यास' के साथ इस का सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिये वेदान्त के श्री वैष्णव सम्प्रदाय में बन्दर और बिल्ली के बच्चे के उदाहरण लिये गये हैं। बन्दर का बच्चा अपने प्रयास द्वारा माँ से चिपका रहता है, अतः माँ के अन्य कामों में लगे रहने और एक डाल से कूद कर दूसरी डाल पर जाने पर भी बच्चे को माँ का संरक्षण प्राप्त रहता है, बिल्ली के बच्चे को माँ मुंह में दबा कर जब जहाँ उचित समझती है, ले जाती है। वास्तव में 'समर्पण' स्वयं एक 'अभ्यास' है, जो आसान नहीं, और 'कृपा' दण्ड और विनाश के रूप में भी होती है। 'न्याय' और 'कृपा' वास्तव में परस्पर विरोधी नहीं, किन्तु एक दूसरे के भिन्न दृष्य (views) मात्र हैं।

प्रस्तुत लेख में 'कृपा' के विषय में दो बातों का प्रधानतः प्रतिपादन हुआ है:—

(१) साधना में 'कृपा' का व्यावहारिक महत्व है। इस तत्व का स्वीकरण 'अहंता' को उचित रूप में लाने का साधन है, जो ब्रह्म-विद्या विषयक साधना का मुख्य अंग है।

(२)साधनामें 'कृपा' पर निर्भरताकी प्रभावोत्पादकता (Efficacy) का कारण यह है कि 'सम्पूर्ण सत्' की व्यवस्था में उस का वास्तविक स्थान है।

अन्त में एक सम्भावना की ओर इंगित कर देना भी उचित प्रतीत होता है कि 'ज्ञान', 'चैतन्य', 'कल्याण' आदि की भाँति ही कदाचित् 'कृपा' भी 'सम्पूर्ण सत्' के अन्तर्गत है, क्यों कि वह निरपेक्ष (*Absolute*)ही क्या, जो किसी भी व्यवस्था में परिसमाप्त हो जाये। कदाचित उपर्युक्त बिल्ली के बच्चे की साधना की श्रेष्ठता पर बल देने वालों का वास्तविक अभिप्राय यही हो। 'सम्पूर्ण सत्' के साथ तादात्म्य की चरम स्थिति का वर्णन कबीर ने तो दोनों ही तरह किया है:—

(i) कबिरा कुत्ता राम का मोतिया मेरा नाँव।
गले नाम की जेंवड़ी, जित खींचे तित जाँव॥

तथा

(ii) तन थिर, मन थिर, सुरति थिर, थिर भयो सकल सरीर।
ता के पीछे हरि फिरें कहत 'कबीर', 'कबीर'॥

—सम्पादक

अध्यात्म

(समर्थगुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़)

(क्रमागत)

कर्म, ज्ञान और आनन्द तीनों ही बीच की दशायें हैं और तीनों ही दिल की विशेषतायें हैं। उनमें इतना ही भेद है कि कर्म नीचा है और आनन्द ऊंचा है तथा ज्ञान बीच की हालत है।

स्थूल-देह नीचा, कारण-देह ऊंचा और सूक्ष्म-देह बीच की हालत है। कर्म व्यक्ति और बाह्य-गति है; आनन्द शान्ति और स्थिरता है और चिन्तन तथा सोच-विचार बीच की स्थिति है।

जब दो चीजें मिलेंगी तभी तीसरी हालत पैदा होगी और इस तीसरी हालत में सम्मिश्रण और मिलावट है। यह मिलावट और सम्मिश्रण दिल की हालत है और दिल में है। विवेक, ज्ञान और परिणाम का निर्णय सब इसी के आधीन हैं।

जहाँ एक होता है वहाँ विचार की फुरणा नहीं होती है। और न विवेक अर्थात् जोड़, घटाना, गुणा और भाग करने का अवसर ही हाथ आता है। एक में कैसा कर्म एवं कैसा आनन्द? जब दो होंगे तभी उनके मेल से तीसरी हालत पैदा होकर भेद कर सकेगा कि यह अमुक है। यह मैं हूँ, यह तू है कि वह है। ग्रन्थि बीच में होती है उसके एक ओर एक सिरा एवं दूसरी ओर दूसरा सिरा होता है। मन ही तो बीच की ग्रन्थि है जिस के एक ओर ऊंची हालत चैतन्यता की है और दूसरी ओर नीची हालत जड़ता की है तथा दोनों के प्रभावों और छाया को लेकर यह मन जड़ और चैतन्य की ग्रन्थि बन जाता है, एवं सोचने समझने के लिये विवश होता है। यही उसकी विशिष्टता है-कभी नीचे जाता है एवं कभी स्थिर होकर बैठ जाता है। यही तीनों ही उस के स्वाभाविक-गुण हैं।

सिर ऊपर है, पाँव नीचे है; बीच में दिल है जो दोनों को गति प्रदान करता है। सत् ऊपर है तम नीचे है; और बीच में दिल

है जो दोनों ही को गति दे दे कर अपना काम निकाला करता है।

पहली हालत कर्म है दूसरी ज्ञान है तीसरी आनन्द है। इन तीनों में ही उसका दौरा होता है। यही कारण है कि गति, समझ और शान्ति उसका परिणाम होती है। गति कर्म, समझ ज्ञान एवं शान्ति आनन्द है ज्ञान बीच की सम्मिश्रित अवस्था है। अतः जो व्यक्ति मन और स्थूल शरीर की अनेकता के क्षेत्र में अनेकता के साथ रहता है, व्यवहार करता है और विवेक-शील तथा बुद्धिमान है वह अज्ञानी है। जो व्यक्ति फ़नाफ़िलकसरत (अनेकता में लीन) हो वह अज्ञानी, और जो फ़नाफ़िल्वहदत (एकत्व में लीन) हो वह ज्ञानी है। जो स्थूल शरीर और दिल के द्वन्द्वात्मक-क्षेत्र में रहता हुआ उनके कारबार में लगा हुआ, डूबा हुआ (लीन) अथवा झुका हुआ है वह अज्ञानी है और जो व्यक्ति स्थूल शरीर और दिल के क्षेत्रों को छोड़कर अपने दिल को कारण-देह अर्थात आत्मा में लगाकर उसी के आनन्द और सुख शान्ति और स्थिरता में लगा हुआ, डूबा हुआ, लीन अथवा झुका है वह ज्ञानी है।

न तो अज्ञानी, शरीर के क्षेत्र से ऊंचा है और न ज्ञानी। दोनों शारीरिक क्षेत्र में हैं। अन्तर केवल इतना है कि एक को अनेकता की धुन है और दूसरे को एकत्व की। एक आत्मा में शाँति और स्थिरता की खोज करता है और दूसरा शरीर, इन्द्रियों एवँ अंगों के क्रियाकलाप में। दोनों में से किसी को भी स्थिरता और शान्ति की असली हालत प्राप्त नहीं है इस लिये कि अज्ञानी अमल (क्रिया) और इल्म (विद्या) के द्वारा अनेकता का प्रेमी बना हुआ है और एकत्व में प्रति दिन जाता है। और ज्ञानी एकत्व का प्रेमी बना हुआ अनेकता के क्षेत्र में विवश वापस आता है। न ज्ञानी शरीर को छोड़ सकता है और न अज्ञानी आत्मा के सुख से वंचित किया जा सकता है। दोनों ही एक जैसे हैं। दोनों को ही आवरण और पर्दा, भ्रम और वहम ने दबोच रक्खा है। हाँ यह अवश्य है कि ज्ञानी की दशा, अज्ञानी की तुलना में आपेक्षिक दृष्टिकोण से अच्छी और श्रेष्ठ है क्योंकि स्थूल शरीर अनेकता का क्षत्र है और आत्मा एकत्व का क्षेत्र है। अनेकता बेदारी और जाग्रति अवस्था में है और एकत्व सुषुप्ति और नीद में है शरीर दोनों ही हैं।

(क्रमशः)

सहज मार्ग की शिक्षण पद्धति

(श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन)

महात्माओं ने अख़लाक़ (सद्व्यवहार) पर बहुत बल दिया है। यह बात उस समय समझ में आई जब पतन (*Degeneration*) आरम्भ हो गया। पतन (*Degeneration*) का अर्थ, वास्तव में, यह है कि समस्त ज्ञान शक्तियों—उदाहरणार्थ अनुभव और विवेक आदि में संतुलन (*Balance*) नहीं रहा और उन के काम तितर बितर होने लगे। विवेक-शक्ति का कार्य यह है किस ही अनुभव करे, इस प्रकार कि प्रत्येक समय का जो कार्य है, ठीक प्रकार से सम्पन्न होने लगे।

बहरहाल गड़बड़ी पड़ गई। हर बात असन्तुलित (*Unbalanced*) हो गई। किसी में कोई बात ज्यादा हो गई, और उस चीज के ख़िलाफ़ हो गई, जो प्रारम्भ काल में थी। हम को उसी चीज़ अर्थात संतुलित अवस्था (*Balanced condition*) पर वापस जाना है, और वास्तव में यही अख़लाक़ (सद्व्यवहार) है। यही उसकी सही परिभाषा (*Definition*) है। यदि हम अपने आप को इसी तरीके में ले आवें तो एतदाल (*Moderation*, समत्व) पैदा हो जाये और बिगड़ी हुई हालत संभल जावे।

बिगड़ने की सूरत किस प्रकार पैदा हुई? धीरे धीरे जो बात ख़याल में ज्यादा तेज़ घुसी, और आप ने उस को शक्ति (*Power*) दे दी, तो वह चीज़ अधिक व्यावहारिक (*Practical*,-ठोस) रूप में व्यक्त हुई। और उसने इतना अधिक अपने आपको अभ्यस्त (आदी) बना लिया, या यह कहो कि धीरे धीरे उसमें इस क़दर अभ्यस्त हो गये, अर्थात् उसे अपनी दूसरी प्रकृति (*Second nature*) बना लया, कि अब उससे निकलने को जी नहीं चाहता।

अतः जरूरत इस बात की है कि कोई व्यक्ति ऐसा मिल जाये,

जिसकी समत्व शक्ति (*Power of Moderation*)उस पर सम्पूर्णतः छा गई हो, और वह अपनी शक्ति से इन चीजों को तोड़-फोड़ कर असल हालत पर रूजू (*Direct*) कर दे। अब ज़रा सोचिये तो सही ! जिस समय उन के बिगड़ने का आरम्भ हुआ, कितना धीमा धीमा हुआ होगा, और अन्त में ठोसता की हालत ले ली होगी। बहरहाल इस वक्त ठोसता की हालत है।

अब यदि शिक्षक (तालीम-कुनिन्दा) इस चीज़ को उस हालत पर रूजू (*Direct*) करना चाहता है, जो वास्तविक लक्ष्य है, तो उसको अपने हल्केपन से काम लेना पड़ेगा, जिस में ताकत की रोक (बन्दिश) हो, और हथौड़ा का काम इस चीज़ पर करे। ज़ाहिर है कि यदि कारीगर का खयाल लोहे की असली हालत, या किसी चीज़ के बनाने का न हो, और हथौड़ा पीटता रहे, तो वाञ्छित वस्तु कभी नहीं बन सकती। दूसरा अभिप्राय यह कि वास्तव में हथौड़ा नाम मात्र के लिये है, और उसकी असली ताकत उसमें होकर काम कर रही है। कबीर साहब ने क्या अच्छा कहा है—

ताना नाचे, बाना नाचे, नाचे सूत पुराना।
बीच तार में जुलहा नाचे, भेद किसी ने जाना॥

यदि कारीगर केवल हथौड़ा लोहे पर पीटना आरम्भ कर दे, तो उसकी शक्ल बहुत भद्दी बनेगी। इसी प्रकार यदि आध्यात्मिकता का शिक्षक डाँट डपट आरम्भ कर दे, तो विश्वास रखिये कि कदापि वह शक्ल नहीं बन सकती, जो हमारा लक्ष्य है। अफसोस, कि भेद आज तक किसी की समझ में नहीं आया, और शिक्षक के रूप में ताल ठोंक कर खड़े हो गये। यह राज जो इस समय मैं खोल रहा हूँ, जाने इसने क्या क्या नुक़सान किये होंगे— समझ नहीं कि इस का अन्दाज़ा लगा सकें। यह रास्ता कितना बारीक है : अफसोस, इसकी ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। शिक्षक बनने के लिये हर व्यक्ति तैयार हो गया, इस बारीक चीज़ को हथौड़ा से पीटा और

और उन्हें खुली रखना चाहिये रजाई में मुंह ढक कर कभी न सोयें। सुबह खुली जगह में टहलने अवश्य ही जायें। शुद्ध हवा में गहरी साँस अवश्य ही लेते रहें, ताकि अधिक से अधिक शुद्ध हवा हमारे फेफड़ों में पहुँच सके। गहरी साँस लेने के लिये दौड़ना कसरत करना, या तेजी से टहलना अच्छा साधन है।

बहुत से ऐसे घाव देखे जो महीनों से ठीक नहीं हो रहे थे। कारण यह था कि घाव पर दिन रात मलहम पट्टी बँधी रहती थी। हवा घाव पर लगाने से डरते रहते थे। उन्हीं सड़े हुए घावों पर मट्टी-पट्टी एक घन्टे के लिये बाँधी और एक घन्टे बाद घाव पर शुद्ध हवा लगने दी गई। घाव को धूप, हवा ने शीघ्र ही अच्छा कर दिया। बुखार आदि रोगों में मैंने रोगियों को तथा अपने दो वर्षीय बच्चे को १०६.५ डिगरी बुखार की तेज हालत में कमरे से बाहर झोपड़ी में खुली हवा में सुलाया, कुछ समय बाद ही बुखार में आराम मालूम हुआ—और बच्चा कुछ देर बाद चैन से सो गया। लोग बुखार की हालत में रोगी को शुद्ध हवा लगाने से डरेंगे। खिड़कियाँ भी बन्द कर देते हैं। प्रकृति शरीर में लगी आग को ठंडी हवा से बुझाना चाहती है, मगर घर वाले बुखार के रोगी को हवा में सुलाने के बजाय गर्म कपड़ों से दबा देते हैं, ताकि रोगी का शीघ्र ही दम घुटने लगे और आग में आग बढ़ जाय। सर दर्द, बुखार, बेहोशी मृगी आदि रोगों में खुली शुद्ध हवा में सुलाने से रोगी की तकलीफ में आराम मालूम होता है, और रोगी की हालत सुधारने लगती है। इस लिये मनुष्य को अधिक से अधिक शुद्ध हवा का सेवन करना चाहिये।

हवा से लाभ

(काशीराम अग्रवाल)

हवा, मनुष्य, पशु, पौधे आदि का प्राण है। बगैर भोजन के मनुष्य महीनों जीवित रह सकता है, पानी के अभाव में भी कुछ दिन रह सकता है, मगर हवा के बिना मनुष्य एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। हमारे शरीर के लिये इतनी आवश्यक वस्तु होने पर भी अधिकतर लोग हवा से सच्चा लाभ नहीं उठाते। वह नहीं जानते कि हवा की सहायता से फेफड़े रक्त को शुद्ध करते हैं, अतः हवा शुद्ध होने पर रक्त-शोधन की क्रिया अच्छी प्रकार चलती रहती है। शुद्ध हवा के लगने से मुरझाया शरीर खिल उठता है, सुस्त शरीर हरा भरा हो जाता है। शुद्ध हवा के अभाव में ही फेफड़ों में गन्दगी इकट्ठी होती रहती है, और वह गन्दगी सड़ने लगती है। नतीजा यह होता है कि फेफड़े खराब हो जाते हैं। फेफड़ों में दूषित विकार इतना अधिक जमा हो जाता है कि मनुष्य को शुद्ध हवा में अगर चले जाना पड़ जाता है तो अन्दर का दूषित विकार जुकाम आदि के रूप में बाहर बह कर निकलने लगता है। वह दूषित विकार अन्दर रुका इसलिये था कि शुद्ध हवा मिले तो वह गन्दगी को बाहर निकाल फेंके। उस शुद्ध हवा का शरीर पर लगने का नतीजा यह हुआ। किन्तु उन्होंने उस प्रकृति की शुद्ध हवा की देन पर एतराज किया कि 'आज मैं एक महाशय जी के कहने से टहलने खुली हवा में चला गया--मुझे ठंड लग गई।' सोचने की बात है, टहलने तो बहुत से महाशय जाते हैं उन सब को तो ठंड नहीं लगी, सभी को जुकाम नहीं होता। वह बेचारे यह नहीं जानते कि शुद्ध हवा के अभाव में ही फेफड़ों की सफाई ठीक नहीं होगी, शुद्ध हवा प्राप्त होती रहे तो न खाँसी हो न दमा, न जुकाम ही हो, न सर्दी ही लगे। जिसे शुद्ध हवा बराबर प्राप्त होती रहेगी उसका रक्त शुद्ध होता रहेगा, फेफड़े गन्दगी को इकट्ठा न होने देंगे। जब फेफड़ों में अधिक गन्दगी काफीसमय तक रुकी

रह जाती हैं, तो फेफड़े सड़ने लगते हैं जिससे टी० बी० आदि भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

मनुष्य को शुद्ध हवा की कितनी अधिक आवश्यकता है और अशुद्ध हवा से जो हानि होती है, वह तो समझ ही सकते हैं। इस लिए शुद्ध हवा की प्राप्ति के लिये प्रातःकाल का टहलना सबसे अच्छा है। टहलने के लिये जहाँ तक हो खुली जगह, खेतों में, नदी किनारे, बगीचों आदि की तरफ ही जाना चाहिये। हरियाली जगह में टहलना इसलिये और भी अच्छा है कि पौधे, वृक्ष आदि मनुष्य की गन्दी जहरीली साँस (Carbon-di-oxide) को ग्रहण करते हैं, और शुद्ध हवा (Oxygen) को बाहर फेंकते हैं जो मनुष्य की खूराक है; अगर प्रकृति ऐसा प्रबन्ध न करती तो मनुष्य को शुद्ध हवा प्राप्त होना ही कठिन हो जाता।

जहाँ गन्दगी सड़ती हो, गन्दे नाले नाली हों, बैठक से लगा हुआ शौचालय हो, अधिक जमघट हो, धुआँ धूल हो, ऐसी जगहों की हवा बड़ी अशुद्ध एवं जहरीली होती है। ऐसी जगहों में अधिक ठहरने से श्वास द्वारा वह गन्दी हवा शरीर में पहुँच कर विकार पैदा करती है: खून खराब हो जाता है, चर्म रोग आदि हो जाते हैं। इस लिये ऐसी जहरीली हवाओं से मनुष्य को बचना चाहिये, और शुद्ध हवा के लिये सुबह शाम टहलने जाना चाहिये।

नाक के अतिरिक्त हमारे शरीर के रोम कूप भी श्वास ग्रहण करते रहते हैं। गर्मियों में देखा होगा पसीने के रूप में अन्दर की गन्दगी इन रोम कूपों से बाहर आती है। अगर शुद्ध हवा रोम कूपों को प्राप्त न हो तो भी चर्म रोग पैदा हो जाते हैं, रोम कूप बन्द हो जाते हैं। इस लिये पूरे शरीर पर ही शुद्ध हवा लगनी चाहिये। शुद्ध हवा के अभाव में मनुष्य रोगी हो जाता है और कष्ट भोगता रहता है। शुद्ध हवा के लिये साधन भी बनाने चाहिये कि बगैर परेशानी के हमें बराबर शुद्ध हवा प्राप्त होती रहे। रहने सोने के कमरों में अधिक खिड़कियाँ होनी चाहिए

और उन्हें खुली रखना चाहिये रजाई में मुंह ढक कर कभी न सोयें। सुबह खुली जगह में टहलने अवश्य ही जायें। शुद्ध हवा में गहरी साँस अवश्य ही लेते रहें, ताकि अधिक से अधिक शुद्ध हवा हमारे फेफड़ों में पहुँच सके। गहरी साँस लेने के लिये दौड़ना कसरत करना, या तेजी से टहलना अच्छा साधन है।

बहुत से ऐसे घाव देखे जो महीनों से ठीक नहीं हो रहे थे। कारण यह था कि घाव पर दिन रात मलहम पट्टी बँधी रहती थी। हवा घाव पर लगाने से डरते रहते थे। उन्हीं सड़े हुए घावों पर मट्टी-पट्टी एक घन्टे के लिये बाँधी और एक घन्टे बाद घाव पर शुद्ध हवा लगने दी गई। घाव को धूप, हवा ने शीघ्र ही अच्छा कर दिया। बुखार आदि रोगों में मैंने रोगियों को तथा अपने दो वर्षीय बच्चे को १०६.५ डिगरी बुखार की तेज हालत में कमरे से बाहर झोपड़ी में खुली हवा में सुलाया, कुछ समय बाद ही बुखार में आराम मालूम हुआ—और बच्चा कुछ देर बाद चैन से सो गया। लोग बुखार की हालत में रोगी को शुद्ध हवा लगाने से डरेंगे। खिड़कियाँ भी बन्द कर देते हैं। प्रकृति शरीर में लगी आग को ठंडी हवा से बुझाना चाहती है, मगर घर वाले बुखार के रोगी को हवा में सुलाने के बजाय गर्म कपड़ों से दबा देते हैं, ताकि रोगी का शीघ्र ही दम घुटने लगे और आग में आग बढ़ जाय। सर दर्द, बुखार, बेहोशी मृगी आदि रोगों में खुली शुद्ध हवा में सुलाने से रोगी की तकलीफ में आराम मालूम होता है, और रोगी की हालत सुधारने लगती है। इस लिये मनुष्य को अधिक से अधिक शुद्ध हवा का सेवन करना चाहिये।

अनन्त यात्रा

(इस स्थायी स्तम्भ का उद्देश्य साधकों की आध्यात्मिक प्रगति का विवरणात्मक चित्र प्रस्तुत करके ब्रह्म-विद्या को सुव्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन के लिये सुलभ करना है। एतदर्थ श्रद्धेय 'बाबूजी' के साथ एक श्रेष्ठ एवं संवेदनशील अभ्यासी के पत्र-व्यवहार का क्रमशः प्रकाशन किया जा रहा है। पत्रों के केवल वही अंश प्रकाशित किये जा रहे हैं, जो आध्यात्मिक स्थितियों के अनुभव से सम्बन्धित हैं। अभ्यासी का नाम आदि व्यक्तिगत बातें प्रकाशित नहीं की जारही हैं।
—सम्पादक]

क्रमागत
(पत्र संख्या ४४)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय श्रीबाबूजी,
सादर प्रणाम।

कृपा-पत्र आपका पूज्य.....के लिये आया, उससे समाचार मालूम हुये। पत्र में यह पढ़कर अत्यन्त खेद हुआ कि मेरी आत्मोन्नति रुक गई थी। दुःख सबसे भारी इस बात का है कि जितने दिन उन्नति रुकी रही उतने दिन जिन पर यह तन, मन, सब बलिहार कर चुका हूँ और जो इस भिखारी का केवल खजाना और ध्येय है, हाय 'उनके' पास तक पहुँचने में उतनी ही अधिक देरी हो जायेगी। पूज्य श्रीबाबूजी, आप बताइये कि इस गरीब से क्या त्रुटि हो गई थी ? मेरी साधना में क्या कमी हो गई थी जिससे कि मैं उसे शीघ्र सुधार लूँ, और "जिसने" मेरा सारा चैन लूट लिया "उस" तक मौज और मस्ती से पहुँच सकूँ। यह अवश्य है कि इस बेचैनी में

ऐसा चैन है और होगा जो सदा के लिये स्थाई होगा। प्रथम जब ध्यान करने की तबियत ही नहीं होती थी और तबियत में अजीब उचटापन था तो मैंने यह समझा कि यह भी कोई दशा होगी परन्तु मैंने sitting नहीं छोड़ी। यद्यपि जब मैं ध्यान करता था तो दिल पर बड़ा दबाव पड़ता था परन्तु मैंने दिन रात में छः सात बार sitting लेना प्रारम्भ कर दिया और इसके अतिरिक्त भी दिन में जब भी अवसर मिला मैंने पूजा की। मुझे फिर यह भी विश्वास हो गया कि अब sitting न जाने क्यों मुझे पचती नहीं। तब मुझे याद आया कि एक बार पूज्य.....ने कहा था कि 'मालिक' की याद से सब पच जाती है तो मैंने रात रात भर जागना शुरू कर दिया परन्तु हृदय का बोझ बढ़ता ही गया। यहाँ तक कि अक्सर ऐसा लगता था कि Heart-Sink हुआ जा रहा है परन्तु अपने ही आप कुछ दवा खाता रहा किसी से कुछ बताया नहीं। यदि मुझे तनिक भी संदेह रुकावट का होता तो मैं आपको शीघ्र ही लिखता। खैर 'मालिक' ने उबार लिया। मेरे 'श्री बाबूजी', आप बीच बीच में। मुझे देखते रहने की कृपा कीजिये गा। आपकी कृपा से मेरी हालत अब फिर ठीक आ गई है। दिल का सारा बोझ हट कर बड़ा हल्कापन आ गया है। जो सबसे लिपट जाने को जी होने वाली दशा मैंने लिखी थी वह अभी है और न जाने क्यों बैठे ही बैठे अकस्मात् बड़ी फुरफुरी सी आती है और ऐसा लगता है कि तमाम शरीर से sitting अथवा ईश्वरीय-धारा निकल रही है। आँखें भी आजकल ध्यान में भी बन्द नही होती हैं, बरबस खुल जाती हैं और बैठे बैठे कभी पैर में कुछ रेंगता सा मालूम होता है। कभी ऊंगली में, कभी हाथों में और कभी सिर में भी रेंगन मालुम होती है। कभी कभी गाते समय मालूम पड़ता है कि मुंह में से बड़ी पवित्रता निकल रही है। मुझे तो वहीं जाना है जहाँ कि आपको ले जाना है। मुझे यह पढ़कर प्रसन्नता हुई कि आपने यह लिख दिया कि "उसे मैं ठीक ले चलूँगा"। यह आपकी महानता एवं यश

है कि मुझसे अधम के लिए भी आपने ऐसा लिख दिया।

आपकी दीन, हीन संतान

.....

(पत्र संख्या ४५)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय 'श्रीबाबूजी',

सादर प्रणाम।

मेरा पत्र आपको मिला होगा। अब पाँच, छः दिन से तो मुझे इसका भी पता नहीं लगता है कि कुछ self-surrender है या नहीं पहले जैसा लिखा था कि यह मालूम पड़ता था कि मशीन की तरह। सब काम हो रहे हैं, अब यह भी नहीं है। जब पूज्य.....से कुछ हाल बताने लगता हूँ या और कुछ काम करने लगता हूँ तो इसका भी पता नहीं रहता है कि मैं कौन हूँ अब जब पूजा में बैठता हूँ तो समय का ज्ञान ही नहीं रहता है हाँ शरीर जब थक जाता है तब कुछ ध्यान आता है। कभी कभी माथे में बड़ा फैलाव सा लगता है। अगले पत्र में जो मैंने सारे शरीर से फैज निकलना लिखा था वह बात अब भी है।

मेरे 'श्रीबाबूजी' आपके इस सहज-मार्ग में आने से मन तो 'मालिक' की याद से घायल हो गया लगता है परन्तु मैं तो यही कहूँगा कि इन घावों के पालने में कोई अजीब मस्ती है परन्तु यह घाव बहुत ही छुपे और गहरे होते जिनका उभार ऊपर तक नहीं आने पाता है। तभी शायद आपके 'मिशन' में कोई जल्दी आने को तैयार नहीं होता। यदि और कोई दशा मालूम होगी तो शीघ्र लिखूंगा।

आपकी दीन, हीन संतान

.....

(पत्र संख्या ४६)

प्रिय..... खुश रहो ।

पत्र मिला, हाल मालूम हुआ । हमारे यहाँ कोई नहीं रुकता अगर विश्वास ठीक हो । ऐसे station जरूर आते रहते हे जहाँ पर ठहराव कुछ हो जाता है । अगर ज्यादा दिनों तक ठहराव रहे तो तरक्की में उतने दिनों कमी रहती है और अगर कम रहे तो कोई हर्ज नहीं होता । यह ठहराव भी बड़ा मुबारक है । इससे आगे बढ़ने की ताकत पैदा हो जाती है । एक कारण रुकाव का और हो जाता है वह यह कि ज्यादा खा जाने से हज्म न होने की वजह से यह बात पैदा होती है । महात्माओं ने उसको भी मुबारक कहा है । कहा तो यहाँ तक है कि अक्सर अभ्यासियों की बरसों यह कैफियत रही है और इसको क़ब्ज़ (spiritul constipation) कहा है । मगर यह हमारे गुरू महाराज की बरकत है कि इस प्रकार का क़ब्ज़ जो रुकावट डाले पैदा नहीं होता । तुम्हारी हालत कब्ज की न थी और न होगी, यदि ईश्वर ने चाहा । बल्कि एक stage पार करने के बाद और उसके आगे आने वाली stage के बीच की जगहें हर अभ्यासी को पड़ती हैं । मैंने अपनी आत्मिक—बल की एड़ उससे तुम्हें निकालने को नहीं लगाई । तुम अपनी ताक़त से स्वयं निकल आये, और मैं चाहता भी यही था । अगर अब तक उस हालत से न निकलते तो ज़रूर मैं अपनी will exercise करता । सबसे अच्छा चलना तो उसी को कहते हैं कि अपनी मेहनत से आगे बढ़े । तुम्हें अपने चित्त में ग्लानि नहीं करना चाहिए, इसलिये कि अगर यह हालत न होती तो तुम उससे निकलने की कोशिश नहीं करते । अब चूंकि इस से निकलने के लिये अपने हाथ-पैर चलाये हैं इसलिये आगे बढ़ने की और ताकत आ गई । जिस्म में जो तुम ने रेंगन लिखी है वह चीज़ जिस्ममें गुदगुदी पैदा करती है या सिर्फ उसका कोई action सा पैदा हो जाता है ?दूसरी बातयहहै कि यह चीज बढ़ रहीहै या उतनीही है,और किसी वक्त मालूम होती है या नहीं ?

तुम्हारा शुभचिन्तक

(क्रमशः) "रामचन्द्र"

(२०)

ध्येय और प्रतीक

(श्री रघुनन्दन प्रसाद, 'इन्द्र', एडवोकेट)

ध्येय और प्रतीक में अन्तर है । ध्येय हमारी आत्मा का गन्तव्य लक्ष्य है, जिसकी ओर हमें अपने ज्ञान, भक्ति और कर्म से बढ़ना है, जिसको हमें प्राप्त करना है, जिससे हमें तदात्मरूप हो जाना है, जिस में अपने को लयकर देना है । प्रतीक वह वस्तु है जो हमें सतत् उस लक्ष्य का बोध कराती रहती है, हमारी दृष्टि से उसे ओझल नहीं होने देती और जो हमको उसकी प्राप्ति के लिए प्रेरणा और स्फूर्ति देती रहती है ।

जिनके भीतर ध्येय-निष्ठा बस गयी है, उनके लिए प्रतीक का भले ही कोई उपयोग न हो, परन्तु जिनको अपनी चेतना में उस निष्ठा को जगाना और स्थिर करना है, उनके लिए प्रतीक का बहुत बड़ा महत्व है। बिना प्रतीक का सहारा लिये या तो वह निष्ठा जागती ही नहीं, या यदि जागती है तो जुगनू की तरह क्षण भर चमक कर फिर लुप्त हो जाती है, और समय आने पर फिर उसी प्रकार एक बार चमक उठती है और फिर अन्धकार में खो जाती है।

परन्तु इस प्रतीक से चिपके रहने से एक धोका भी होता है । मनुष्य धीरे धीरे प्रतीक ही को ध्येय समझने लगता है और सत्य ध्येय उसकी दृष्टि से लुप्त हो जाता है, साधक को इस विषय में बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता होती है । बिना चिन्तन के प्रतीक का कुछ भी अर्थ नहीं है । प्रतीक की सार्थकता इसी में है कि वह हमारी चेतना में स्थायी निष्ठा का निर्माण करता है । यदि ध्येय के प्रति वह निष्ठा ही न बन सकी तो फिर प्रतीक केवल आडम्बर और दम्भ की वस्तु रह जाता है ।

निष्ठा निर्माण के लिए प्रतीकों का आश्रय लेना ही पड़ता है। ईसाई अपने चर्च के प्रति एक पवित्र भावना रखते हैं, मुसलमान अपनी मसजिद के प्रति वही भावना रखते हैं और हिन्दू अपने मन्दिर के लिये भी वही भावना रखते हैं। चर्च, मसजिद और मन्दिर सब विशाल फैले हुये देश में विशिष्ठ स्थान हैं। और केवल स्थान के नाते उनका कोई विशेष महत्व नहीं है। मनुष्य ने उनको महत्व तो अपनी मानसिक भावना से प्रदान किया है।

इसी प्रकार बाइबिल कुरान और वेद सब निष्ठा निर्माण के लिए सहायक प्रतीक हैं। वे स्वयं ध्येय नहीं है। और उनके लिए जो श्रद्धा हमारे मन में हैं, वह हमारी उनको प्रदान की हुई है। और आगे बढ़िये तो ईसा मुहम्मद और कृष्ण भी क्या है ? केवल हमारी निष्ठा-निर्माण के साधन हैं। ध्येय तो इन से आगे की कोई वस्तु है।

परन्तु जो व्यक्ति यह कहता है कि उसके लिए न तो चर्च-मसजिद और मन्दिर का कोई उपयोग है, न बाईबिल कुरान और वेद से उसका कोई प्रयोजन है, और न वह ईसा मुहम्मद और कृष्ण के सर्व-परिष्कृत व्यक्तित्व को स्वीकार करता है। वह या तो अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करके उस से एक रूप हो चुका है, अन्यथा वह केवल शरीरधारी एक कीड़ा है, जिसको अभी यह ज्ञात ही नहीं कि उसका कोई लक्ष्य भी है।

जैसे पदार्थों के प्रतीक है, वैसे ही कर्मों के भी प्रतीक हैं। पूजा, नमस्कार सजदा, आग के सामने झुकना यह सब आत्म निवेदन के प्रतीक हैं। साधक को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वास्तव में इन बाह्य कर्मों से उनमें आत्म-निवेदन की भावना में दृढ़ता और स्थिरता आ रही है या नहीं। जब उसको यह लगने लगे कि इनके द्वारा उनका आत्म शोधन नहीं होरहा है, तो उनको

थोड़ा ठहर कर आत्म निरीक्षण में लग जाना चाहिये; यह जानने का प्रयास करना चाहिये कि कहाँ पर उसके मन की लकड़ी कच्ची रह गयी है। यदि वह आत्म निरीक्षण नहीं करेगा तो या तो उसकी पूजा उसकी नमाज उसका कीर्तन सब निर्जीव हो जायेंगे, या फिर उनमें दम्भ अहंकार और आत्म प्रदर्शन का रूप आ जावेगा।

पूजा, नमाज और कीर्तन तीनों सात्विक राजसिक और तामसिक हो सकते है। देखने में उनके बाह्य व्यापारों में कोई अन्तर दृष्टि गोचर नहीं होता परन्तु तामसिक पूजा मरी हुई और निर्जीव होती है, राजसिक पूजा में दम्भ और अहंकार भरा होता है। केवल सात्विक पूजा ही मनुष्य को ऊपर उठाने वाली होती है, वह सच्ची नम्रता और उदारता उत्पन्न करती है, उनको अपने ध्येय से परिचित कराती है, और उसको ऊपर की ओर लेजाती है। राजसिक पूजा बढ़कर धर्मान्धता का रूप धारण करलेती है। धर्म के क्षेत्र में वह अपने अभिमान की अभिव्यक्ति चाहती है और जो इस अभिमान के मार्ग में बाधक होता है, वह उसकी हिंसा करने पर उतारू होजाती है। उसमें सहिष्णुता नहीं होती। तामसिक पूजा बढ़कर अकर्मण्य और मूढ़ बनादेती है। जो धर्म के श्रोत को ही सुखा डालती है।

प्रतीक भावना का अवलम्ब है। जो इन्द्रयों से परे और निराकार है, उसको कैसे पकड़ा जाय, यह एक कठिन साधना है। इन्द्रियाँ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के संसार में भ्रमण करती है। इस लिये पहले इनको ही आधार बनाकर साकार और सगुण को स्वीकार करके निराकार और निर्गुण की ओर बढ़ना पड़ता है।

मूर्ति पूजा में रूप का सहारा लिया जाता है, कोई धर्म पुस्तक पढ़ने में शब्द का सहारा लेते हैं। मूर्ति पूजा का रहस्य

है साकार में निराकार की अनुभूति। जितने कर्म हैं सब प्रकृति से सम्बद्ध हैं। प्रकृति के गुणों के बाहर उनकी गति नहीं है। वही कर्मों का आश्रय है। सगुण उपासना में भी हम प्रकृति का आधार किसी न किसी रूप में पकड़े रहते हैं उसको छोड़ नहीं देते।

परन्तु प्रकृति के यह आधार भी दो प्रकार के होते हैं—एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म। साधक साधना पथ में जितना ही आगे बढ़ता जाता है, सूक्ष्म आधारों को अपनाता जाता है। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म अधिक व्यापक होता है। रूप की अपेक्षा चरित्र अधिक सूक्ष्म है और चरित्र की अपेक्षा गुण और भी सूक्ष्मतर है। इसलिये जो रूप और मूर्ति को स्वीकार नहीं करते वह चरित्र को स्वीकार करते हैं। राम और कृष्ण का यशोगान करते हैं, अथवा ईसा और मुहम्मद के चरित्र से प्रेरणा लेते हैं। जो इससे भी कुछ आगे बढ़ जाते हैं वह केवल गुणों का आश्रय ढूँढ़ते हैं, कर्मों का नहीं।

जब भावना की गति बुद्धि की ओर जाने से रुक जाती है, तो फिर वह स्थूलता की ओर पलट पड़ती है और यही साधक के पतन का लक्षण है। यह ससीम प्रतीकों को इस प्रकार पकड़ लेती है मानो वह असीम ध्येय हों। अपने ससीम अहम् को वह उन प्रतीकों से जोड़ लेती है और फिर उन प्रतीकों को परम ध्येय समझ बैठती है। इसी को विवेक-शून्यता कहते हैं।

बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म में यह साधना-पद्धति समानान्तर रेखाओं में चलती है। दोनों में प्रतीकों का क्षेत्र बहुत विशाल है। बौद्ध धर्म में वह भगवान बुद्ध की मूर्ति से प्रारम्भ होती है और अन्त में उस शून्य में समाप्त हो जाता है, जो गुण क्रिया और भाव सब से रहित है। हिन्दू धर्म में यह प्रतीक मूर्तियों से प्रारम्भ होते हैं। यह प्राचीन महापुरुष राम, कृष्ण, अथवा अन्य किसी देवता के होते हैं,

और अन्त में ब्रह्म में समाप्त हो जाते हैं, जो प्रकृति के गुण कर्म और भाव से रहित है।

यह ठीक है कि जो अव्यक्त और असीम है उसकी कोई विशेष प्रतिमा नहीं हो सकती। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रतिमा की कल्पना करके उसको आधार बनाकर अव्यक्त और असीम का चिन्तन नहीं किया जा सकता, उसका पूजन और आराधन नहीं किया जा सकता।

सारा चिन्तन अपनी प्रारम्भिक अवस्था में द्वन्द्वात्मक होता है। इसमें एक गुण और एक गुणी रहता है। जैसे ईश्वर दयालु है। इसमें ईश्वर गुणी है और दयालु होना उसका गुण है, अथवा एक कर्ता और उसके साथ उसकी क्रिया रहती है जैसे ईश्वर न्यायकारी है। इसमें ईश्वर कर्ता है और न्याय करना उसका कर्म है।

यह द्वन्द्वात्मक चिन्तन बहुत आगे चल कर छूटता है। जब यह छूट जाता है तभी मनुष्य की बुद्धि शुद्ध और निर्मल होती है। और तभी वह प्रतीकों को सम्पूर्ण रूप से त्यागने में समर्थ होता है। तब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सब एक हो जाते हैं। ध्याता, ध्येय और ध्यान सब एक हो जाते हैं। सम्भवतः शिशु के आदि शिशुत्व में भी उसकी चेतना ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान में वही नहीं होती। अन्त में कठिन साधना से फिर इन को एकत्रित करना पड़ता है। जब ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान सब एक हो जाते हैं, ध्याता, ध्येय और ध्यान सब एक हो जाते हैं, उसी अवस्था का नाम समाधि है।

इस अवस्था में सारे विषय इन्द्रियों में लय हो जाते हैं, इन्द्रियाँ मन में लय हो जाती हैं, मन बुद्धि में लय हो जाता है और बुद्धि शुद्ध चेतन में लय हो जाती है। कोई द्वन्द्ववादी नहीं रहता इसी को ब्राह्मी स्थिति भी कहते हैं। फिर इस अवस्था को प्राप्त करके लौटना नहीं होता।

जब तक यह अंतिम अवस्था प्राप्त नहीं होती, तब तक मनुष्य

प्रतीकों का सहारा ढूँढ़ता रहता है। वह भले ही यह कहे कि उसने प्रतीकोपासना और मूर्ति पूजा को छोड़ दिया है, परन्तु वह वास्तव में उससे छूटती नहीं। वह एक प्रतीक को छोड़ कर दूसरे को पकड़ लेता है। रूप को छोड़ कर शब्द को पकड़ लेता है। कभी सकारात्मक प्रतीक को छोड़ कर नकारात्मक प्रतीक को पकड़ लेता है और इस धोखे में रहता है कि उसने प्रतीकों को छोड़ दिया है। वास्तव में प्रतीक उसे छोड़ेगा, वह प्रतीकों को नहीं छोड़ेगा।

॥ भजन ॥

मुरसिद मेरा मुहम्मी, जिन मरम बताया।
दिल अन्दर दीदार है, खोजा तिन पाया ॥१॥
तसबी एक अजूब है, जामें हर दम दाना।
कुंज किनारे बैठिके, फेरा तिन्ह जाना ॥२॥
क्या बकरी, क्या गाय है, क्या अपनो जाया।
सबको लोहू एक है, साहब फरमाया ॥३॥
पीर पैगम्बर औलिया, सब मरने आया।
नाहक जीव न मारिये, पोषन को काया ॥४॥
हिरिस हिये हैवान है, बसि करिलै भाई।
दाद इलाही नानका, जिसे देवै खुदाई ॥५॥

—गुरू नानक

"सुबह का भूला शाम को आजाये तो ?"

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी)

एक वृक्ष की छाया में बच्चे खेल रहे हैं। कुछ दूर दूसरे वृक्ष के नीचे एक बालिका कुछ रूठी सी मुद्रा में खड़ी है और कह रही है, "जब देखो तब, 'तेरा बाप' तेरा बाप" यह भी कोई खेल है ? मैं नहीं खेलती ऐसा खेल।" गुच्चो मनाने आया वह नहीं गई, मुनियाँ आई वह नहीं गई, परन्तु उसके बिना बच्चों का खेल पूरा नहीं हो पाता था।

"अच्छा कल से नहीं चिढ़ाएंगे, आजा री रनियाँ।" तब रानी साहबा चलीं ऐंठ के।

"मेरे बिना तो जैसे तुम्हारा खेल ही नहीं चलता।" वह खेलने लगी।

झुटपुटा हो गया था। पक्षी अपने अपने नीड़ों को लौट रहे थे। गायें चर कर जुगाली करती अपने घरों को लौट रहीं थीं। "हमें भी घर चलना चाहिये। माँ रास्ता देख रही होगी।" रानी ने कहा। वह घर गई। आते ही पुकारा।

"अम्मा, ओ अम्मा, अरी ओ अम्मा, कहाँ चली गई ? मुझे बहुत भूख लगी है।"

उसका मचलना सुनते ही माता दौड़ आई। उसे गोद में उठा लिया। चूमने लगी।

"कहाँ चली गई थी, अम्मा। खाना दे, भूख लग रही है।"

माता का मुख म्लान हो गया। कहाँ से खिलाए, क्या खिलाये लाडली को? ढूंढा तो दो बासी तथा सूखे पापड़ से उठा लाई। "ले खाले मेरी रानी।"

"मुझ पर रोज रोज यह सूखे ठर्रे पापड़ नहीं चबाये जाते। कुछ और दे दे माँ। भला यह देख कितने छोटे छोटे दाँत हैं और तू कहती है, ले खाले यह सूखे पापड़। आखिर क्या सारी दुनियाँ बस यहीं खाकर जीती है ?"

"कहाँ मेरी रानी", माता के अश्रु कपोलों पर लुढ़कने लगे।
"दुनियाँ यही खाकर जीती नहीं मरती है।"
"कहीं भी तो नहीं। देखा है तूने मुनियाँ, गच्चो, जगदीश और सोनियाँ को ? खूब सुन्दर जीते जागते हैं। जहाँ जहाँ मैं खेलने जाती हूँ सब मुझे जीते ही मिलते हैं मरा हुआ तो कोई नहीं मिलता।"
"नहीं बेटी हमारे नेत्रो पर एक झूठा आवरण पड़ा हुआ है जिससे हम मुर्दों को भी जीवित ही देखते हैं किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। हम सत्य और असत्य को पहिचानने की शक्ति खो चुके हैं या शक्ति उपयोग में लाते लाते समाप्त प्राय हो गई है।" माता के अश्रु सूख चुके हैं। उसके नेत्रों में एक दैवी ज्योति आ गई थी जिससे उसे सब साफ और स्वच्छ दिखलाई दे रहा था।
और दस वर्षीया रानी ? वह तो बराबर माँ का मुख देखे जा रही थी। क्षण प्रतिक्षण उसके चेहरे के बदलते रंगों को देख रही थी। उसे भूख मानों बिसर सी गई थी।
"अब हम लोगों को सूखे अन्न में रस नहीं टटोलना पड़ेगा मेरी रानी।" रानी की बाछें खिल गई। "तो हम लोग अब क्या राजा हो जायेंगे ? हाँ माँ जैसे तू कहानी में सुनाती है वही वाली तू होगी रानी और मैं कौन ? हाँ याद आया।" उसने मुँह फुलाकर बड़े ऐंठ कर कहा 'और में हूँगी राजकुमारी रानी। और परन्तु ?" वह तनिक अटकी और गला साफ किया "हाँ कहानी वाला राजा कौन होगा माँ ?" माँ का मुख रक्त वर्ण हो उठा। वह करीह सी उठी। उसके नेत्र कहीं टिक से गये।
"अच्छा माँ तू मन मलिन मत कर मैं जगदीश को राजा बना लूंगी" वह मुस्कराने लगी। "वह तो राजा है ही बेटी मेरी। उसे तू क्या बना लेगी।" वह तुनुक गई। "बड़ा राजा है वह भंगी कहीं का। रोज ही तो मेरे साथ लड़ाई करता है मेरी चुटिया बाँध देता है। चुटकी काट कर भाग जाता है। बड़े आये राजा कहीं के। हाँ जरा सुन्दर अवश्य है, सजा दूंगी तो राजा जचने लगेगा।" माँ मुस्कराई।

"वह तेरा जगदीश है रानी और मेरा जगदीश तो समस्त संसार का स्वामी है।"
"तब तू अब तक क्यों सूखे बासी पापड़ों पर तथा इस टूटी फूटी झोपड़ी में गुजर करती रही माँ। राजा के पास क्यों न चली ?"
"हाँ बेटी, मैं सचमुच उसे भूल गई थी। आज तूने स्मरण दिलाया अब हम तुम दोनों चलेंगे अपने जगदीश के पास।" स्मृति में झटका लगते ही मानों हृदय में धक्का लगा जो उसकी जीर्ण देह को चीर कर मुख से 'हाय' शब्द के रूप में बह चला। अब उसे याद आने लगा।
एक टूटी सी जीर्ण झोपड़ी जिसमें सम्भव है वर्षा की एक बूंद को भी सहन करने की सामर्थ्य न रख सकने के कारण वर्षा से उसका आँगन व झोपड़ी एक हो उठते। तब दोनों माँ बेटी घास फूस एकत्रित करके झोपड़ी के ऊपर डाल डालकर उसे स्वस्थ बनाने का उपक्रम करतीं। हाँ, और उनके इस परिश्रम से घुटनों में सिर दे कर दीवार के सहारे टिक कर रात्रि व्यतीत करने एवं अपनी गृहस्थी की सम्पत्ति फूटा सा तवा, छोटी सी एक लुटिया एवं एक छिद्रो वाली छोटी सी थाली को संभाल कर रखने को सूखी जगह निकल आती। और कपड़े ? कहीं मुनियाँ की फटी फ्राकें और उस की माँ की एक आँध थिगरेदार धोती भी सूखी बच रहती।
कोई भी यह न जानता था कि भिखारिन के वेष में आज किसी कारण वश रानी रह रही थी। उससे स्मरण आया।
वह रानी की ही समवयस्का थी। बड़ी धूमधाम से उसका विवाह रचाया गया था। कैसी सजी सजाई गुड़िया की तरह वह लग रही थी। उसकी माँ बहिन तथा पड़ोसिनें भी ऐसा ही कह रही थीं, 'कैसी फूल सी सजी सजाई गुड़ियाँ है मेरी सोहनी।' ऐसे राजा के घर व्याह कर सोहनियाँ का भाग्य हँस उठा था और उसका तो सारा गृह ही जगमगा उठा था।

उसे स्मरण आया,

जब वह स्वामी (ईश्वर) के घर आई, राजा हर समय उसे पलकों पर ही बिठाये रखता।

और वह ? उसने तो मानों नेत्रों के ज्योति बिन्दु में राजा को ही जड़ लिया था। बड़ी हंसी खुशी भरा जीवन चल रहा था। अब उससे खेलने को रानी भी उसके पास थी उसे लाड़ लड़ाते वह थकती न थी। धीरे धीरे उसका आना जाना पास पड़ोस में बढ़ने लगा (इधर उधर बहकने लगी)। उसके नेत्रों की ज्योति केवल ज्योति रह गई। बहुत, सुन्दर, सौम्य थी ही दिन भर अब पड़ोसिनें भी घेरे रहती, और वह राजा की रानी भी तो थी उसे यह शब्द इतना प्रिय था कि उसने अपनी लाड़ली को यह नाम ही दे दिया था। किन्तु अचानक !

न जाने क्यों वह समझ भी न पाई, एक रात उसका जगदीश रूठ गया और न जाने कहाँ चला गया। वह मस्त सो रही थी। उसे दीन दुनिया की खबर न थी। वह तो दीन को विस्मृत कर दुनिया में बह गई थी। सम्भव है इसी कारण दुनिया के थपेड़ों का भी रसा-स्वादन करने के लिये राजा उसे छोड़कर न जाने किस बन में जा छुपा था।

प्रातः हुआ। सूर्य भगवान की सुनहरी किरणें मानो सोहनी का कंचन लूटने को उसके आँगन में पसर रहीं थीं। न जाने क्यों कुछ स्वप्न सा देखकर हड़बड़ा कर वह उठ बैठी। देखा स्वामी नहीं थे। बहुत ढुंढवाया किन्तु वे न मिले।

तबसे ?

आखिर धन कहाँ तक साथ देता। राजा चला गया तो राजत्व कहाँ तक रहता। धीरे धीरे एक एक कर घर की सामग्री, धन सब पेट की अग्नि-ज्वाला को शान्त करने में काम आने लगे। अन्त में एक दिन वह भी आया कि रानी के साथ उसे भिखारिन का वेष बनाना पड़ा। रूखा सूखा अन्न और फटे चीथड़ों में गुजर रही थी। ऐसी ही दशा में उस दिन झोपड़ी में सूखे पापड़ों के लिये झगड़ा

हो रहा था। किन्तु अब माँ को अपने जगदीश का स्मरण आया तो सारे चित्र एक एक कर नेत्रों के सामने से आ आ कर ओझल हो गये रह गया केवल जगदीश। उसे अपनी दरिद्रता भी विस्मृत सी हो गई। दोनों माँ बेटी साथ साथ झोपड़ी को त्याग कर अपने जगदीश की खोज में चल दीं। जो मिलता खा लेतीं। उन्हें सूखे, बासी की चिन्ता न थी जो गाँव मिलता उसी में रात्रि को वृक्ष के तने से टिक कर सो रहती। आगे आगे माँ पीछे पीछे रानी चली जा रही थी। पहले रानी माता का हाथ पकड़े आगे आगे चल रही थी किन्तु अब न जाने क्यों माँ ने रानी को अपने पीछे कर लिया था। उसके पगों में स्वयं गति आ रही थी। सम्पत्ति (अपनापन) पीछे छोड़ आई थी इसलिये बोझ था नहीं। कोई अपना था नहीं सिवा रानी के, और वह तो साथ ही थी इसलिये किसी की ममता डोरी से उसके पगों में गाँठ न लग सकी थी। फिर रुकती तो कैसे ! जगदीश की खोज थी !

इधर जगदीश का भी बुरा हाल था सोहनी की स्मृति उसके मष्तिष्क से विलग ही नहीं होने आती थी। उसकी रानी भी अब बड़ी हुई होगी। दोनों माँ बेटी न जाने किस दशा में होंगी। कौन उन्हें देखता संभालता होगा। इसी विचार में लवलीन जगदीश भी चला आ रहा था।

क्यों ?

सोहनी की खोज खबर लेने। उसे अपने साथ अपनी मिल्कियत में ले जाने। उसकी दशा देख पीछे से कोई साधु गा उठा:—

"मेरा राम मुझे भजे, तब पाऊँ विश्राम"

किंचित ठिठका, फिर चल दिया। और सोहनी ?

दिन भर चलती किन्तु उसे पता नहीं कि इस संसार में चल रही है या कहीं दूसरे संसार में भ्रमण कर रही है। राजा के स्मरण में लीन बेसुध सी चली जा रही थी। रानी जब कभी एकाध बात पूछती तो उत्तर दे देती। किन्तु अब रानी भी उसे अधिक परेशान न

करती क्यों कि वह भी समझदार हो चली थी। अचानक एक दिन एक स्थान पर रुक कर सोहनी मानों मार्ग से ही कुछ बातें करने लगी। रानी ने पूछा "माँ किससे बात कर रही है" तो मानों मार्ग ने ही उसे उत्तर दे दिया।

"दर दिवार दरपन भये, जित देखूँ तित तोय।
काँकर, पाथर ठींकरी, भये आरसी मोय॥"

एक दिन प्यास अधिक लगने पर रानी के साथ एक पनघट पर जाकर खड़ी हो गई। किसी ने पानी पिला दिया। एक ने कहा "कुछ उन्मादिनी सी है" किसी ने एक शेर सुनाई कि "अपने सिजदे के सिवा गैर का सिजदा है हराम"। वह चल दी। रानी भी बराबर साथ दिये जा रही थी। एकाएक सोहनी एक स्थान पर ठिठक कर खड़ी हो गई। लाज से उसके नेत्र ऊपर न उठते थे। रानी ने देखा तो सामने कोई खड़ा था। फिर दो हाथ आगे बढ़े, और सोहनी को अपनी ओर खींच लिया। एक क्षण सावधान होकर सोहनी ने रानी की ओर देखा। किन्तु यह क्या? उसके हाथों में थी वह स्वयं और चरणों पर थी उनकी रानी। वह गद्‌गद् हो उठी कि पीछे से कोई बोल उठा:—

"सुबह का भूला शाम को आ जाये तो?" उत्तर स्वयं जगदीश ने दिया—"भूला नहीं कहाता।"

'रानी' से तात्पर्य 'बुद्धि'। 'सोहनी' (रानी की माता) से तात्पर्य 'सुरत'। जगदीश से तात्पर्य 'ईश्वर'। जब तक 'सुरत' जागती नहीं, तब तक वह और 'बुद्धि' रानी होते हुये भी भिखारिन ही है।

GURU SANDESH

(Master's Message)

(Shri Ram Chandra Ji. President S. R. C. Mission)
(~~Translated from Hindi by Shri~~ Raghavendra Rao)

It is a matter of extreme pleasure for me that I have got this auspicious occasion to delver to you the message of my Master which is meant for the whole of humanity. His auspicious name was Mahatma Ramchandraji Maharaj and he was a resident of Fatehgarh and the ADIGURU of our Mission. He apent his whole life in the spiritual service of humanity. Generally people think it is difficult-nay quite impossible-to attain liberation in this very life. This, however, is a mistaken idea. Who knows, perhaps this very life of ours might be the last one, takingus towards liberation? Our Master's declaration is that a Sadhak can reach such a state not only in one and the same birth (lifetime) but even within a shorter period than that; if he is a diligent worker and has got a real guide. This he proved also, but the proof is impossible to be given in words. Our experience alone can show it.

He showed to one and all, by an easy method, how to meditate upon the heart, and the same method is prevalent in our institution. Meditation on other points can also be undertaken such as fixing theattention on the point of our nose, or between the

eyebrows etc. But in my opinion meditation on the heart is the easiest and the most beneficial. this I have sufficiently dealt with in my book, "EFFICACY OF RAJ YOGA." The purpose is only that we, who have been extreovrts should now begin to introspect, by detaching our mind from the external world to wnich it is accustomed and by turning it within. If we are successful in this attempt we will begin to gain spiritual experience automatically and will progress on the spiritual path. Perhaps, other forms of worship also may secure us this goal; but this much is certain that so long as we remain extroverts our eyes cannot be turned inwards. Hence those methods alone are useful which are natural and easy, that is, which are free from gross ness; or at least towards which we cannot but be attracted, for, we want to acquire that thing, subtler than which there can be nothing else. Just as when we want to feed a baby we pose innocence like him, so also it is necessary for us to become God-like in order to realise Him.

One thing, namely, virtuous conduct is quite essential in spirituality. Virtuous conduct does not mean that we should only mould our external life so as to rouse sympathy and love in others; but it is a wide term which includes all our actions. Our revered Master used to say, "Even if a Siddha who has reached the highest plane has some defects in his

character, I will say that he has not even had a glimpse of spirituality." Virtuous conduct means that our life should be one with Nature, which is always peaceful and maintains its equilibrium. It means that we have entered that region wherein our disturbed states of mind have become calm. Even if some states remain as they are, they belong to the same region in which we are moving. Here, there are certain knots. Their cause is like this. When the currents of Nature turned in this direction to create us, these knots were formed by the jerks and became the centres of force. When we step into these currents and move freely with them, the knots open giving scope to further progress. The ground further is still clearer and the influence of the knots is lesser; and thus we reach one plane after another. Eventually we will reach that plane where Maya becomes totally extinct. The reach of great souls is generally upto this level; but much remains to be achieved. Viewed from the point of spiritual progress, we have reached only the fifth circle; and as far as I know, there are at least eleven circles still remaining. Crossing these we enter the true region which I have called "THE CENTRAL REGION" in my book EFFICACY OF RAJAYOGA." Formerly it was difficult to attain even this much in one's life-time, but thanks to the efforts of our MASTER, it has now become quite easy to achieve this state in this very life

Perhaps people may not understand this; still I say that such a state can be attained if efforts are made in this direction; or if the guidance of a Siddha or a perfected personality [that can show us for a moment even the slightest flash of it by means of his power of transmission] is sought for. With regard to devotion, as far as I have observed men through my insight (आन्तरिक दृष्टि), I think that devotion is one thing and flattery is another. That which people generally call devotion (BHAKTI) is really flattery, and hence they do not reap its full fruit. Bhakti is nothing but attachment–our disposition to that side should be irrevocably attached. It is true that those who feel some pang are on a plane higher than that of flattery. I call this as "Pang" because there is no remembrance of God; and our attachment to our Master is not upto that mark upto which it ought to be. The cure of this pang is only a surgical operation which may bring out the poisonous contents, lest it may develop into a chronic cancer difficult for treatment. By "Poisonous contents" I mean those anti-spiritual things which we have, by mistake, included in the spiritual field. The means of our worship and meditation should be such as to manifest spiritual or real love in our heart.

There are many methods of loving God and many "BHAVAS" are resorted to, e. g., Paternal sentiment

(पितृ भाव), friendly sentiment (सख्य भाव) etc. In my opinion there can be no other relation better than that of the lover and the beloved. If we think ourselves to be the lovers and Him the Beloved and proceed with the same sentiment, the result will be that God Himself will become the Lover and we the beloved in the long run. This is the fourth stage of meditation, but if one thinks that one has realised the goal at this stage it will be a serious blunder. What remains further can not be stated; for, it is related to practice only. The purpose of all this talk of mine is to place before you those things that are helpful in spiritual progress.

The highest attainment seems to be quite cheap nowadays, and devotion is so cheap that it has no more any value. We call the particular "movement of eyes" as Bhakti, and its experience as the highest attainment, which, as I know, is sufficient to become a Guru at present. Really the times have changed for the worse and have made us also worse. When we too were painted with the same colour we came to know that we were far worse. Now we are under the impression that nothing has gone wrong, so far as that we thought the wrong path to be the perfect one-nay, we gave it a new colour and placed it before the people. Now we do not possess that light, and the position of our ethical conduct is such

as we have mistaken the evil path for the royal road to welfare. Favouritism and jealousy have increased so much that even if there were quarrels and fights to prove the wrong way to be right, we thought it to be a meritorious deed. Copious examples of this can be seen. Some think that the conception of an Attributeless (निर्गुण) God is better, whereas some others encumber God (सगुण) with attributes. There has been enough of hot discussion between those two groups finally leading to rivalry, and hatred anp even to mutual enmity. This is how the seed of poison is sown. The advocates of (निर्गुण ईश्वर) blame those of (सगुण) and vice versa. In fact both of them are erring. They have neither attained (सगुण ईश्वर) nor (निर्गुण). There are, no doubt, two ways, but the goal is only one, the realisation of God. But this much is certain that if we meditate upon the SAGUNA (सगुण) form of God and think it enough, the Infinite will disappear from our view. It means that we have heaped up the ice which showers from the sky, in the form of snow. Now if the ice-berg slips into the sea it is inevitable that the ship should collide with it. Likewise if those who worship the NIRGUNA (निर्गुण) form of God stick to it thinking that it will suffice for them, they too will commit the same blunder of amassing the ice, though no doubt they go a step forward. Truly speaking God is neither SAGUNA (सगुण) nor

NIRGUNA (निर्गुण) but " He is what He is." It is we who conceive Him to be SAGUNA (सगुण) and it is God who makes Himself NIRGUNA. (निर्गुण). What we should do in order to avoid these qarrels is that we must fix our view on the Original Element (आदि तत्व), be it SAGUNA (सगुण) or NIRGUNA (निर्गुण). Whatever It is, we must love It. Now the problem of God-realisation remains to be solved. Generally people think that one must see Vishnu with his four hands holding the conch, discus, mace and the lotus. But I think that such a DARSHAN, is the result of grossness of the people's mind, and consequently our own subtle form comes before our mind's eye as we have taken that form for the purpose of meditation. The state of mind which is developed by the practice of Raj Yoga is quite a different one. There one feels the Divine power in every atom, and remains in a wondrous trance. Such, really, is the state of vision. Let people step into this field and experience themselves.

Suppose we have acquired such a state of God-vision, it does not mean that we have attained perfection. This is only a first step towards becoming the Divine Itself. One cannot say what stages remain yet to be passed through. Our chief aim is to merge ourselves into the Greatest One (भूमा), so that we forget ourselves altogether. Certainly one is freed

from birth and death in this state. Attaining the state of God-vision cannot be said to be acheiving Reality, for we are yet in a stage of amusing our minds. We can be compared to those children who amuse themselves by toys. If you think over this from the bottom of your hearts you can possibly gain some knowledge of the root of Reality. Whatever little devotion we have, it is still a means to amusement, because we cannot enjoy peace if we turn away from it even for a moment. On the other hand if our state remains as it was, at the time of amusement, it can no longer be called as an amusement but a seed (बीज) of Reality, beyond which we have to progress. Amusement is of many kinds; boys amuse themselves by toys; the learned by study; the priests by worship; the lovers by love; the devotees by merger in the Divine; and the highly-attained by complete Ignorance. Upto this it is mere amusement. Reality begins after we cross all these rings (stages). It is highly regrettable that people mistake the amusement by toys for the real state, and rest there contented.

He who gets a single piece of tumeric cannot call himself a trader in it.

A question arises at this juncture as to what Reality can be. It is impossible to say anything on

this. For the purpose of understanding it can be said that Reality begins where steps of spirituality end. If we go beyond that, it will also disappear and its memory, too, recedes to the background, and you will enter that region where it is difficult to say how many circles yet remain to be crossed. If a gentleman wants to experience this, my only suggestion is that he should brush aside every feeling and step into this uncommon field; but really speaking the goal is still further. The Vedas have expressed this as "Not this, Not this"(नेति नेति)

Whatever I have said above, it is very difficult to achieve by one's own efforts without transmission, through self-effort helps much in this path. The reason is that as we rise higher and higher the power of Nature becomes subtler, and a subtler thing possesses more power and energy: hence we cannot ascend far. Under such conditions it is absolutely necessary for us to find out such a guide who can lift us higher and higher by his power. It is my humble opinion that although the Master takes the Abhyasi to the higher planes by his will power, there is every possibility of his slipping down unless he is given the power of staying in that plane only. A certain abhyasi was helped in crossing the fourth circle of the BRAHMAND MANDAL. I myself experienced that it would have taken at

least seven thousand years to reach that plane by self effort and five times that period to go beyond that circle. Likewise, it will take five times the period to cross each circle. Innumerable are the spiritual stages which cannot be named even. Therefore it is impossible to estimate the time required to attain them. It is only the power of transmission that makes it possible in our lifetime the work of billions of years, provided this aim remains in our view.

If our eyes are not fixed upon the aim and we go on performing worship, our condition will be the same as that of a traveller who goes on boarding each and every train not knowing where to get down. The path of spiritual progress becomes visible only when one is aware of the goal or station he wants to reach. Now who should always keep the path in view ? By whose power do we progress ? Who will show us the way and become our guide ? Who takes us to the destination ? It is none else than our own mind, which is, from ages, called by the people as being the meanest and the most crooked. It alone takes us nearer to God and there is no other means apart from it. Certainly we have ourselves made our minds corrupt, fickle and waver aimlessly. Otherwise the same thing would have served us a lot. Through it alone god's command-

ments and (ऋचा) (Vedic hymns) are acquired. Many experiences are gained through it, but when it is spoiled (vitiated) conversation with one's own mind begins. It begins to question and answer by itself. This, the people often misunderstand as a higher state of the mind. I have come across many such persons suffering from this disease. It cannot be said that persons have obtainad even the slightest glimpse of spiritual knowledge. Under the pretext of "Dictates" volumes will be written by those who misunderstand these dictates to be Divine. But if the mind is in its pure state of Reality it does not labour under such an illusion. Now what is this state of Reality ? I am placing before you all my research in this regard. At the beginning of this creation there was a stir, a motion. This motion was the basis of creation and it was the 'Sacred thing'–sacred next only to God. The same thing appeared in the form of human mind. Above it there is that Reality which I have called "Centre" in the "EFFICACY OF RAJ YOGA". You may now think how we have spoiled this sacred thing. when we take this sacred thing, mind, to its real position, everything directed by it will be true. The mind can be elevated to that position through transmission, only if a good transmitter is found and if the Abhyasi also can sustain the power of transmission.

I have placed before you some necessary things and have stressed the importance of transmission at every step. The reason is that I have not found any other thing more beneficial as a means of progress, because another's socred power and our own effort combine together in the same way as one and one make eleven. Afterwards we will not be aware of our own practice though we will be doing it, and so there is not even the least shadow of egoism. Egoism can be formed where there is grossness in worship. Therefore I have hinted in the "EFFICACY OF RAJ YOGA", that if times are to be changed only that form of worship as laid down by my Master Mahatma Ramchandraji for the uplifting of the fallen (पतित) should be adopted.

Spirituality is a science. The power which flows from the original repository has the capacities in the form of knots, both of creating and destroying. The sages of India have used the power of creation for the reformation of humanity. The destructive power too, is found in such abundance that even the atom-bomb is nothing in its comparison The yogi uses these things according to the divine command and his will power. At present, too, this power is being utilised and a new world is being created. Spiritual renaissance must necessarily take place and India will once again lead the world-on matter

no matter however long a time it may take. Other countries have begun to realise that no nation can even survive without spirituality, though this conviction is still in the form of a seed. If Europe an and other nations want to survive, their attempts in this direction will not bear fruit without resorting to spirituality. The age of diplomacy and strategem is now passing swiftly. By the end of this century a great change is bound to take place. Everyone should gladly welcome what is destined to befall him; and should come to the path of spirituality whereby his welfare is promoted. Men have not even given me an opprotunity to serve them but still I am serving them and my country according to my capacity without their knowledge. Probably they will know this when I pass away.

Whatever has been stated above is the message of my Master for the benefit of the whole world.

"The Nacissus for a thousand years cries over her non-recognition. Rare is one born in the garden having the heart of cognition."

—Translated from Hindi by Shri Sripath Rao Sarnad, M. A. M. Ed. Lecturer techehers Training College, Gulbarga (South India)

Misunderstandings About Yoga.

III. Ashtanga—Yoga.

(Shri Ishwar Sahai)

The routine practice prescribed by Patanjali is depicted in his favour ite Ashtanga-Yoga–The eightfold steps of Yoga viz. Yama, Niyama, Asan, Pranayam, Pratyahar, Dharna, Dhyan and Samadhi. According to the old view they served as the successive rungs of ladder for the Abhyasi to climb upto the highest summit of Samadhi. In this respect Ashtanga Yoga of Patanjali is considered to be an indispensable essential for the successful pursuit of Yoga.

But if we analyse all these steps, we find that the first five viz. Yama–self restraint, Niyama–observance of rules, Asan–posture, Pranayama–control of breath, and Pratyahar–abstraction of Indriyas, relate purely to the physical side of Yoga and are confined exclusively to the bodily exercise for the cultivation of the body discipline. The last three steps which comprise of Dharna, Dhyan and Samadhi are internal (antaranga sadhana) or the real Yoga. Dharma pertains to the process of locating the attention to one specific point or idea taken up for meditation and is thus an elementary stage of Dhyan. Its interpretation as a state of concentration

is basically wrong and has been the cause of misleading people into false notion that concentration is the preliminary feature of meditation. The point will be more clear if we examine the entire process in its natural course. To start with meditation we have first to fix our attention to the point we take up for meditation. That is what Dharna implies. Then we begin thinking over it with continued attention. This may be taken as meditation. when we get absorbed into the thought with or without conscious knowledge of it, it is then the state of concentration or Samadhi. Thus attentiveness, continuance of attention and absorption are the three natural stages which follow in the usual course during the process of meditation. We, therefore, come to the conclusion that Dharna, Dhyan and Samadhi, instead of being three different steps of Yoga to be practised separately one after the other are in fact the three phases of the one and the same process–meditation. Dhyan–meditation begins with Dharna and ends in Samadhi–concentration. Concentration is therefore the direct result of meditation and not the preliminary feature. It would thus be a wrong process to attempt at concentration in the very beginning of the practice of meditation for in that case one has necessarily to resort to physical force for suppressing or strangulating the mind which finally leads to inner grossness–a thing far away from the real purpose.

The commonly accepted routine of Ashtanga Yoga comprises mainly of two parts-The Hathayoga section and the Rajayoga section. But unfortunately so much unnecessary importance is attached to the mechanical observance of every item of the routine, that most often the real purpose is altogether lost sight of and only Asans and Pranayama remain to view all the life which one adheres to, boastfully exalting over his physical attainments whereas in true sense he remains as far away from the real spirit of Yoga as ever. Rigid adherence to the mechanism of a process without taking into account its real significacce is seldom of avail and very often seriously harmful to the real pursuit. One must adhere closely to one's ultimate object and choose and try the best available means for it. It does not matter if for the purpose he has to deviate from the machanical routine, for our real purpose is to achieve the end and not the formal courtesty of adherence to the set routine. Moreover, it may also be a grave mistake to presume that what the great sage has laid down thousands of years ago, is all and that nothing more or beyond is ever possible or conceivable. The development of experience brings to view changes, modifications and improvements in all branches of knowledge and science, As such, without meaning any discredit to the great sage, I may say that Patanjali's Yoga thesis may not justly be taken as entirely beyond modification or improvement especially in view of the present ways of a

man's living. But not entering into detailed discussion on the point, I confine myself only to points directly related with the topic taken up herein.

The mechanism of Ashtanga Yoga starts from the body and proceeds from the physical to the mental by the centripetal course. Naturally it would be a long and tedious process which may not be complete in the course of a whole life. It is for this reason alone that Yoga is generally believed to be a pursuit of life after life continuously. But who knows of the lives other than this one. The final attainment is thus indefinitely postponed. We, therefore, need think over it seriously and modify in a way so as to be able to achieve the end within the span of this one life.

The real Yoga pertains to the finer faculties of the inner being, concerned directly with the soul. Mind being the central force in the man, controls everything to him whether outer or inner. Thus every thing good or bad that happens through the medium of the body proceeds originally from the mind. So the proper course for regulating the activities of the body would be to modify the mental tendencies accordingly. That means the centrifugal course, proceeding from the mental to the physical-a natural and the most efficacious process. It is, therefore, the mind and not the body that is first to be tackled with for the purpose. That comes to the proper regulation of the mind at the elemen-

tary step leaving the body discipline to follow in the natural course. In this light we can safely presume that the physical means prescribed under the provisions of Ashtanga Yoga may not be quite suited to our purpose and be, therefore, an unnecessary waste of time and energy. Moreover, the main object underlying physical practices is generally the attainment of Yogic powers to gain control over the subconscious activities of the anatomic nerves which is definitely and distinctly apart from the idea of subtleness, we finally aim at.

The physical practices provided for under the Hatha Yoga section may, however, be a source of consolation to those who seek guidance from books or from persons who offer guidance on the basis of their book-knowledge. But "Books are not helpful in realization, and when realization is achieved books are useless". (Viveka Chudamani).

This is all the utility of books in our pursuit for realization. The view of certain saintly teachers of the day that books can help and guide to a certain extent in as much as they inspire a man, does fit in properly, for it is not really the books that inspire but the inspiration really comes from within- from the latent craving within the inner being of the man. Under the influence of this natural inspiration he begins to exert himself through the medium of his intellect. The only easily access-

ible source which his intellect can discover at the first sight is books, He, therefore, falls to it eagerly and most often gets hopelessly entangled in their verbose discussions. All that continued study of books leads him to is argumentations and discussions and finally to disappointment and distraction as may be witnessed in most of the cases. Moreover, the processes and methods picked up from books do not prove to be very fruitful since their technicalities are more often misunderstood.

In view of all these facts, the Sahaj Marga does not support the prejudicial view regarding the essentiality of Ashtanga Yoga for the yogic pursuit and prefers a more natural and better effective centrifugal course, taking up the regulation of the mind at the very initial step. The system thus starts from the central point, Dhyan-meditation, the basic point of Rajyoga omitting the Hathayoga exercises from the course. The last three steps too, being originally the different states of Dhyan are treated as one process-meditation. Thus of all the eight limbs of the Ashtanga Yoga there remains only one-the meditation, which covers every thing physical, mental and psychic and is all-efficient in every respect. The Sahaj Marga thus confines itself only to meditation, setting aside all unnecessary projections, and recommends but one process-meditation, throughout for the achievement of the one object-the realization of the Absolute.

(Series to be Continued)

Talks on Shri Babu Ji's

Commentary on the Ten Commandments of the Sahaj Marga

(By Dr. K. C. Varadachari, M. A., Ph. D., Reader in Phillosophy, Shri Venkatephwar University, Tirupati, Andhra Pradesh)

Commandment 3

One should fix one's goal as the complete oneness with God, and one should not rest till that oneness is acheived.

As already pointed out it is necessary to know one's goal and that is God. But what is oneness with the goal; not merely knowledge or even a vision of God but oneness with Him. Sri Krishna says that one should know, see and enter into Him. Master similarly speaks of the three stages of our process as sarupyata, sayujyata and laya at each knot. In a similar way even in the Ultimate one first knows and sees and enters into the Ultimate. Usually men see first and then know and hardly enter into the Ultimate, since they think that knowing is the Ultimate. Therefore, if one wishes to attain the highest stage of Yoga or union, then it is necessary to seek oneness with it. Our will must, therefore, never be for lesser levels of existence but the Highest. For this an unwavering faith is necessary. Earnestness is necessary and such an earnestness is something that requires one's seeking the Infinite Being within oneself and get absorbed in Him. It is, of course, difficult to get staunch determination, but it is nonetheless necessary, and God Himself in

several subtle ways helps even in the formation of such a determination and faith. However, the soul knowing its weakness at first should dedicate all its being to God and begin to accept all as the gift of God and this leads to development of faith in a subtle manner. As Sri Krishna has stated, if one but surrenders to Him, that is, chooses Him as his goal and all, he very soon begins to change and attains the stage of inward determination and becomes a good man (KSIPRAM BHAVATI DHARMATMA). The power and primal force begins to flow steadily into oneself and helps the ascent to It. As already stated, God is not only the goal but also the means to Himself, and indeed no one can be the means and the instrument of our ascent other than God alone.

One should thus develop constant remembrance and longing for God (ANANYASCHINTAYANTO MAM YE JANAH PARYUPASATE, TESAM NITYABHIYUKTANAM YOGAKSEMA VAHAMYAHAM) which alone will lead to the constant watchfulness of God.

Thus one must fix one's goal as the Ultimate and constantly strive towards the attainment of oneness with It.

Commandment. *"Beplain and simpleto be identical with Nature"*

I would like to say that we have to understand by the word 'Nature' the Nature of the Highest or

the Ultimate. In Indian thought Nature is usually translated as PRAKRITI, the original matrix out of which everything has come into being. This may be said to be God or His will or His KSOBHA or even His MAYA or power (Sakti). In a sense once the ksobha has occurred, it begins to move or stir and the oneness becomes manyness and flows in all directions. At the beginning there is close oneness being maintained with each one of the many. Each particle of many is full with the power of the Central Being and as such could be said to be One-Many, or a manyness that is with oneness (visista-ikya). or a oneness which is many (visista). But as the many begin to radiate or fall into the directions creating the several planes like the Parabrahmanda. Brahmanda, Pindas and Andas etc. they lose contact with the Oneness or the Centre and even fail to resemble that primary condition. This is due to creation of private fields consequent on the process of flow that gives rise to knots or GRANTHIS. The pull exerted by the particular movements, which almost become gross particles or individuals, tightens the knots and the connection with the source is almost lost though not entirely since it cannot happen. It is only a conceptual fiction to hold that there are absolutely individuated particles or souls for at no time can they even exist without the central power sustaining them. However, our present condition is very much like that of a lifeless stone that does not reveal the living force which animates

all. Thir could be stirred into being and made living when it is turned inward to its own centre.

But the Master describes with an illustration taken from life how one manages to get into more and more complications through desire. This is such a common experience that it also is the subject-matter of most cinema films which in turn lure others into the same complications both within and without. The dangers of drama and cinema do not lie in the subject-matter or story, but in the subordinate rousing up of unnatural desires, desires which take one away from the central purpose. It is a peculiar weakness of the modern man that he thinks he can realise the ideal of living untouched by the forces of desire even when in the midst of all temptations-even like Suka. However, VAIRAGYA is necessary for becoming like the Centre or the Goal. The beginning is ever simple. It is uncomplicated or plain. If one should seek oneness with that Centre one should become simple and plain even like That. The only way of living like a lotus-leaf untouched by the water (PADMAPATRAIVA AMBHASA) is to reach the centre, and then experience the world for then one does not lose oneself by hypnotic self-suggestions that are garneered by desires.

It may be asked how, if twists and inversions happen when there is the flow of spiritual energy from above, there can be the simple and plain kind

of living; this is possible when the knots are loosened and not when tightened as now preventing the free flow of the Highest Consciousness in Its own manner through all the knots without being arrested. Even the so-called inversions would lose the typical distortions which happen when there is loss of continuous flow due to desires and deviations. The continuity of the Supreme Consciousness being maintained one feels the peace and fulfilment all through the planes of the Parabrahmanda, Brahmanda, Pinda and Anda too. This is living according to Nature, identical with Nature and this is plain uncomplicated, unarrested and uninterrupted simplicity.

Our true Nature is Divine, and we should live according to the true nature of the Divine.

(Series to be Continued)

⚜ ⚜ ⚜

An inquirer: " *What is the ultimate goal of Sadhana* ?"

Master; " *Balanced State*"

Inquirer: "*How is it to be atiained*" ?

Master: " *By living in harmony with Nature.*"

The Problem Confronting Man Today

(Shri Raghavendra Rao, B. Sc., B. E., M. I. S. E.)

Ideologies and literatures, sciences and crafts, and what not; One is bewildered when he really looks at the world. Inspite of all this progress and advancement there is no rest, no peace and no happiness to be found anywhere. Rivalry, hatred, fear and jealousies are the most prominent ones everywhere. Any serious thinker on modern lines is bound to lose hope for humanity. Apparently there does not seem to be any way out of all this chaos.

Yet some events now and then or even some newspaper headings here and there, a word spoken by an eminent man, a deed done by a leading personality or just a flight of fancy verging to conviction may kindle a flicker of light or a ray of hope amidst this despair. Nevertheless this will be only for a fraction of a moment and immediately afterwards one finds himself again in the abysmal darkness.

The above is true not only of any individual but also of every state, every nation, every group of nations and even of the whole world. Naturally the question of what to do arises. No doubt, this is a very simple question. Many easy and convincing answers have been given in reply to this. Yet

no answer seems to be entirely satisfying. Can there be really any answer to it? Yes, if it is directed to oneself and no, if it is proposed for others.

The cry of one religion for mankind. or one world government is a cry in wilderness. It would be an unnatural thing if it happened so. The efforts of most of the thinkers are directed towards finding out ways and means to change the society, to change the collectivity, to rectify the whole suddenly, ignoring the parts or individuals or the man of whom the whole, the collectivity or the society is composed. If we analyse the causes of such thinking some obvious conclusions come to view. Firstly, the thinker considers himself alone to be very-nay-the most important and others to be trifling particles of a huge, unwieldy and chaotic mass. Secondly, there is the fear of his own extinction before everyone is converted to his views, hence the hurry and frantic cry. Thirdly, his innate urge to make himself comfortable makes him forget or ignore the type of comfort which his neighbours require, and so on.

The thirst for power and the promptings of the sexual urges etc., they say, are the main motive forces for all this unrest and misery. No doubt, these play a very great part but there are still many more, the analysis of which may lead to the creation of a vast literature of speculation and fantasy. But this offers no practical solution except some meagre

suggestions of suppression or sublimation, or at the most it may serve as a muddy reflector showing our own images in an inverted and distorted manner.

Rest and motion are two opposite states. But the wise ones have told us that neither absolute rest nor absolute motion can be found any-where. Hence the remedy shown is to be quite at rest doing all works and to be intensely active in utter calmness. A compromise, a balance or an harmony should be aimed at as the goal to be attained. So far as the presentation of this ideal is concerned it is quite agreeable but how to attain it is the question. Whether an individual should attain it at first or whether a society or a state should impose this upon itself and its members first ?

Now let us do a bit of clear thinking. A society or a state means the collectivity of individuals aiming at a certain common purpose and striving to attain it by imposing certain restrictions upon the actions of its members. But we have to remember or take into consideration the existence of other states or societies striving for similar purpose but with different methods. This too would be a mere ideal supposition because there are numerous states and societies with different ideologies and different modes of functioning. Again, there are vast differences among the members forming a state or society, some differences are even fundamental. Hence any thought, any proposition or any scheme for the

betterment of a society will not fetch desirable results if each one of its members does not act in perfect harmony with it. Thus the fundamental point is to tackle the individual.

At this point many of the so-called leaders or reformers or thinkers may just turn away their faces. This shows that they are in need to help themselves first before putting up the show of helping the society. One cannot help the society if he cannot help his neighbour or if he cannot at least face himself. It is not a great mysticism to understand the meaning of facing one's own self. One may face himself in a looking-glass: but there he finds himself a left-handed one. Then how to face one's own self? We shall come to it presently, after we exhaust this topic of the starting point more satisfactorily.

The work has to start with the individual-with myself. If I make a determined effort to make myself perfectly harmonious then the solution of the whole problem becomes easy. For this, I have to turn my attention away from all the innumerable petty things in which I am engrossed at present. But how can I turn away from all these pleasantries. That means I am not yet prepared. So why should I teach and preach to others?

Here one may say, "All right, I am prepared to work upon myself and I have determined to strive after attaining perfect harmony. But how about

others? will they too do likewise? Or else will they remain same as before becoming a hindrance to my progress? How about the world-problem with which we had started - will it be solved or will it remain unsolved for ever?" Again, these questions requiring guarantees and assurances are just betrayals of haste, immature thinking and want of will to work; of sluggishness, mediocrity and slerility. It serves no purpose to answer this. Even if they are answers already given by many thinkers, one has to find out the answer himself This requires a bit of original thinking and searching experimentation.

Having decided to advance individually towards perfect harmony let us think of the method. The method too must be perfectly harmonious and in conformity with our natural growth. Just as our body has grown up from childhood to adolescence to full maturily in the natural manner without struggle and conscious effort on our part, our growh in spirituality too should be likewise. No unnaturalness whatsoever should enter our spiritual growth. If we exmine all the methods, current or obsolete, preached through sermons or scriptures, accordding to this standard we may choose the best one suited to us. But here is a risk. We me mistake the glitter for gold Hence it would be safest if we pray to God with sincere heart to give us a Living Guide in our own form.

सहज साधना

यत्करोसि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः
निर्वैरः सर्व भूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

[हे कुन्ती पुत्र, तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान करता है, और जो कुछ तपस्या करता है, वह मुझे समर्पित करते हुए कर ।

हे पाण्डु पुत्र, जो मेरे लिये कर्म करने वाला, मुझे अन्तिम गति मानने वाला, मेरे प्रति अनन्य प्रेम रखने वाला और समस्त अस्तित्व प्राप्त करने वाले पदार्थों और प्राणियों के प्रति आसक्ति और वैर भाव से रहित है, वह मुझे प्राप्त करता है ।

— भगवद्गीता]

[Whatever you do, whatever you eat,
Whatever sacrifices you perform, whatever you give as alms.
Whatever austerities you indulge in– O son of Kunti!
That you should do with a feeling of absolute surrender to me.
Whoever performs actions for me, has Me as his ultimate Destiny,
Is devoted to Me, and is devoid of attchment and hostility
Towards all the phenomena of becoming—
He acquires Me, O son of Pandu!

—Bhagavadgita]

सहज मार्ग के दस नियम

१—प्रत्येक भाई प्रातः सूर्योदय से पूर्व उठें, और संध्योपासना नियमित समय पर जहाँ तक हो सके समाप्त कर लें । पूजा के लिए एक पृथक स्थान और आसन नियत करलें । यथाशक्ति एक ही आसन से बैठने की आदत डालें, और शारीरिक व मानसिक पवित्रता का अधिक ध्यान रक्खें ।

२—पूजा प्रार्थना से आरम्भ की जावे । प्रार्थना आत्मिक उन्नति के लिए होना चाहिए, और इस तरह पर की जावे कि हृदय प्रेम से भर आवे ।

३—प्रत्येक भाई को चाहिए कि अपना ध्येय अवश्य निश्चित कर ले और वह यह कि ईश्वर तक पहुँच कर उसमें अपनी लय अवस्था प्राप्त करके पूर्ण स्थिति प्राप्त कर ले, और जब तक यह बात प्राप्त न हो जावे चैन न आवे ।

४—अपना जीवन साधारण बना लेवें, और वह ऐसा साधारण हो कि नेचर (आदि प्रकृति) से मिल जुल जावे ।

५—सच बोलें, और प्रत्येक कष्ट को ईश्वर की तरफ से अपनी भलाई के लिए समझें, और उसका धन्यवाद दें ।

६—सारे जगत को अपना भाई समझें, और सबके साथ ऐसा ही व्यवहार करें ।

७—यदि किसी से कोई कष्ट पहुँचे, तो उसका बदला लेने के इच्छुक न हों, वरन ईश्वर की तरफ से समझें और उसको धन्यवाद दें ।

८—भोजन के समय जो कुछ मिल जावे प्रसन्नतासे खायें, और ईश्वर की याद में भोजन करें, । शुद्ध और पवित्र कमाई का ध्यान रहे ।

९—अपना रहन-सहन और व्यवहार इतना सुन्दर बनालें कि जिसको देखने मात्र से ही लोगों को पवित्र आत्मा होने का भास हो, और लोग उससे प्रेम करने लगें ।

१०—यदि कोई अपराध भूल से हो जाये तो सोते समय ईश्वर को अपने सम्मुख समझ कर उससे दीनता की अवस्था में क्षमा माँगें, और पश्चात्ताप करें, और प्रार्थना व प्रयत्न भी करें कि भविष्य में कोई अपराध न होने पाये ।

श्री रामचन्द्र मिशन का प्रकाशित साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
1-Efficacy of Rajyoga	*Shri Ramchandra Ji Shahjahanpur (U.P.)*	(रू० नयेपैसे) *2-50*
2-Reality at Dawn	*Do*	*1-50*
३-सत्योदयम् (तमिल) (Reality at Dawn in Tamil translation by Shri A. Balasubramaniam)	अनुवादक श्री अ० बालसुब्रह्मण्यम्	*1-50*
४-सहजमार्ग के दस उसूलों की शरह (उर्दू)	श्री रामचन्द्र जी, शाहजहांपुर (उ० प्र०)	१-५०
5. Commentary on Ten Commandments of Sahaj Marga (No. 4 in English translation by Shri. Raghavendra Rao)		*1-50*
६-अनन्त की ओर	श्री रामचन्द्र जी शाहजहांपुर	१-००
७-गुरु सन्देश	,, ,,	०-२५
८-सहज समाधि	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)	०-२५
९-'सहज मार्ग'-पत्रिका की फ़ाइल (द्वितीय वर्ष)		अजिल्द ३-०० सजिल्द ३-५०
१०- ,, ,,	(तृतीय वर्ष)	,,

मिलने का पता—सेक्रेटरी, श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहाँपुर उत्तर प्रदेश (*India*)